वेदकालीन राज्यव्यवस्था

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—२०१

वेदकालीन राज्यव्यवस्था

लेखक

डा० श्यामलाल पाण्डेय
(एम० ए० पी एच० डी०, डी० लिट०)

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रकाशकीय

राजनीतिक और प्रशासनिक विधाओं एवं सिद्धान्तों के प्रचलन में सामान्यतः पश्चिमी विद्वानों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इसलिए अरस्तू, प्लेटो जैसे पुरातन मनीषियों से लेकर आधुनिक कालीन लाक, रूसो, स्पेंसर आदि विचारकों को ही साधारणतः राजनीति शास्त्र के व्याख्याता या संस्थापक कहा जाता है। किन्तु इस दिशा में भारत का अपना दृष्टिकोण भी अति प्राचीन एवं वैविध्यपूर्ण रहा है, सुदूर अज्ञात युग से ही यहां का जन समाज अपनी व्यवस्था के संचालन में भारतीय नीति का सफल उपयोग करता आया है। इतिहास रचना की ओर यहां के निवासियों की रुचि न होने के कारण पुरातन भारतीय शासन प्रणाली का कोई क्रमबद्ध उल्लेख या आदर्श आधार तो नहीं पाया जाता, किन्तु विश्व-साहित्य की सर्वप्रथम एवं सुसंघटित रचना वेद-संहिताओं में प्रसंगानुरूप राजनीति एवं शासन तंत्र का सुनियोजित निरूपण उपलब्ध होता है। अन्वेषणात्मक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि उक्त साहित्य के संकलित होने से पूर्व, अति पुरातन काल में यहां राज शासन एवं वैराज्य (जन शासन) तक का प्रचलन था और इस सम्बन्ध की विधि-सम्मत संस्थाएं भी स्थापित हो गयी थी।

प्रस्तुत रचना के लेखक डा० श्यामलाल पाण्डेय प्राचीन भारतीय राजनीति के मननशील विद्वान् हैं और अपने इस विषय के गम्भीर पर्यालोचन के बल पर भारतीय समाज के अन्धकारावृत्त रहस्यों के उद्घाटनकर्ताओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं। यह लघु पुस्तिका भी आपके प्राचीन राज्यशासन सम्बन्धी निष्कर्षों को भली प्रकार प्रमाणित करती है। हम आशा है कि राजनीति एवं समाज शास्त्र के अध्येताओं को इसके द्वारा अपने देश की अज्ञात शासन प्रक्रियाओं के ऊपर एक नया आलोक प्राप्त होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

विषय | | पृष्ठ

समाज अनुबन्धवाद

दवी सिद्धान्त

अध्याय ४
राज्य का स्वरूप

अध्याय ५
राज्य क तत्व

अध्याय ६

राजा

समिति

विदथ

अध्याय ११

दूत और चर-व्यवस्था

अध्याय १२

राज्य की रक्षा

अध्याय १

वैदिक साहित्य और राजनीतिक सिद्धान्त

वैदिक साहित्य का सक्षिप्त परिचय

वदिक राजनीतिक सिद्धान्ता क परिचय हतु हम ग्राज केवल एक साधन उपलब्ध है वह है वदिक साहित्य। इसलिए वदिक राजनीतिक सिद्धान्ता के ग्रध्ययन हतु वैदिक साहित्य का विधिवत ग्रध्ययन ग्रनिवाय है। वैदिक साहित्य भारतीय ग्रार्यों के जीवन वत्तान्त का ग्रादि साहित्य है। वह विशाल एव ग्रति गहन है। भारतीय ग्रार्यों की जीवन सरिता का वही एक मात्र स्रोत है। उसी स्रोत से भारतीय जीवन की विविध धाराएँ प्रवाहित हुइ हैं। इसी विशालकाय एव ग्रति गहन साहित्य का सक्षिप्त परिचय इस प्रसग म दिया जायगा।

वैदिक साहित्य मुख्य चार भागा म विभाजित है जा सहिता भाग, ब्राह्मण भाग, ग्रारण्यक भाग ग्रौर उपनिषद भाग कहलाते हैं। भारतीय जनता का एक वग इस सम्पूर्ण वदिक साहित्य का वद मानता है ग्रौर उसका यह विश्वास है कि यह सम्पूण साहित्य मानव प्रणीत नहा है। वह ईश्वरीय ज्ञान है जिस ईश्वर न लाक कल्याण हेतु इस सृष्टि के ग्रादि म दिया है। परन्तु ग्रय लोग केवल मत्र भाग को वद मानते हैं। उनके विचार से शेष तीना भाग सहिताग्रा म ग्राये हुए मत्रा के रहस्या का स्पष्ट करने के लिए ग्रनेक ऋषियो द्वारा निर्माण किये गये हैं। इसलिए वदिक साहित्य के ब्राह्मण भाग, ग्रारण्यक भाग ग्रौर उपनिषद भाग को उनके विचार से वेद की सज्ञा दना न्यायमुक्त नहीं है। इन दो मता मे कौन मत ठीक है यहा इस विवाद म पडने की ग्रावश्यकता नहीं है। ग्रत इस विषय पर मौन रहना ही उचित है।

सहिता भाग—वदिक साहित्य के मत्र भाग को सहिता कहते हैं। सहिताए चार हैं जो ऋग्वेद सहिता यजुर्वेद सहिता सामवेद सहिता ग्रौर ग्रथववेद सहिता के नाम से लोक म प्रसिद्ध हैं। ये सहिताएँ ग्रपने ग्राधुनिक कलेवर म जनता क समक्ष सव-प्रथम कब प्रकट हुइ यह समस्या ग्रति जटिल है। विद्वाना के ग्रथक प्रयास करन पर भी ग्रभी तक इसका सवमान्य समाधान नही हो सका है ग्रौर न इतिहास मे ही इस प्रकार का एक भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध है जिसके ग्राधार पर निश्चयपूवक कहा जा सके

कि ये चारों संहिताएँ किस समय अपने आधुनिक कलेवर में जनता के समक्ष सर्वप्रथम प्रकट हुई थीं। कतिपय विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम वेद एक ही था परन्तु कुछ समय के उपरान्त विषयानुसार उसके चार भाग किये गये और फिर इन्हें चार संहिताओं का रूप दिया गया। ये चार संहिताएँ साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुईं। परन्तु यह विभाजन कब हुआ था इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरे विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद प्राचीनतम है। उसके मंत्रों में कुछ हेर फेर करके तथा कुछ में ये मंत्रों का संग्रह करके शेष तीन संहिताओं का रूप स्थिर किया गया है। सामवेद तो ऋग्वेद के ही अधिकांश मंत्रों का संग्रह है। अथर्ववेद, उनके मतानुसार, बहुत बाद का है। यही कारण है कि वेद को वेदत्रयी कह कर परम्परागत सम्बोधित किया जाता रहा है। परन्तु इन दोनों मतों में कौन मत सत्य है, यह स्पष्ट कहना कठिन समस्या है। परन्तु इतना निःसन्देह है कि ऋग्वेद वैदिक आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस कथन में सभी एक-मत हैं।

ऋग्वेद का समय

ऋग्वेद के संकलन काल के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा में अटूट आस्था रखने वाला पण्डित समाज वेदों को अपौरुषेय मानता है। इन पण्डितों का मत है कि वेद अनादि हैं। सृष्टि रचना के समय जब जब मनुष्य पृथ्वी पर सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसे अपने विकास के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है और इस ज्ञान के बिना उसका विकास नितान्त अवरुद्ध रहता है। उसके विकास के लिए यह ज्ञान उतना ही अनिवार्य है जितना कि नेत्र की दर्शन शक्ति के लिए बाह्य प्रकाश की अनिवार्यता है। इस ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान (Divine Knowledge) कहकर पुकारा गया है। इसलिए मनुष्य के विकास एवं उसके कल्याण के निमित्त प्रभु द्वारा यह ज्ञान वेद के रूप में मनुष्य को प्रदान किया जाता है। वेद शब्द संस्कृत की विद् धातु से बना है और इसका अर्थ ज्ञान है। इस प्रकार इस पण्डित समाज के मतानुसार वेद सृष्टि रचना के साथ साथ प्रकट हुए हैं। इस पण्डित समाज का यह भी मत है कि महाप्रलय के उपरान्त जब-जब ब्रह्मा सृष्टि रचना करते हैं वेद भी उसी समय उनके द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इनका कथन है कि उनके इस मत की पुष्टि वेद स्वयं करता है।[1] इस प्रकार इस पण्डित समाज के मतानुसार वेद काल बाधित नहीं है। वेद

१ ९।१९०।१० ऋग्वेद।

के रचना-काल के निर्धारण हेतु सभी प्रयत्न विफल होंगे और इस सम्बन्ध में सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे।

परन्तु विद्वानों का दूसरा समुदाय इस पण्डित समाज के मत से सहमत नहीं है। यह विद्वन् मण्डली वेद को अपौरुषेय एवं अनादि मानने के पक्ष में नहीं है। इन विद्वानों के मतानुसार वेद ऋषियों के चिन्तन का फल है। वेद उन्हीं की कृति है। वेद मंत्रों का सृजन अनेक ऋषियों द्वारा समय-समय पर हुआ है। ये मंत्र बहुत समय तक उस काल की जनता में प्रवाहित रहे। समुचित समय के उपरान्त इन वेद-मंत्रों का संगृहीत कर वेदत्रयी—ऋक् यजु और साम—का निर्माण किया गया। ये वेद मंत्र प्राचीन काल में कुछ श्रेणियों में विभक्त होकर अनेक ऋषि-परिवारों की सम्पत्ति रहे हैं। इन परिवारों में पिता-पुत्र अथवा गुरु शिष्य परम्परानुसार ये श्रेणिबद्ध मंत्र जीवित एवं जाग्रत रूप में प्रवाहित रहे। इसी आधार पर वेद श्रुति नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ऋषि-परिवारों के आदि ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ मुख्य हैं। समय व्यतीत होने पर इन मंत्रों (ऋचाओं) का संकलन कर ऋग्वेद का निर्माण किया गया। इस प्रकार ऋग्वेद संकलित ग्रन्थ है। वह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है और न किसी एक व्यक्ति विशेष के चिन्तन का ही फल है, और इसी प्रकार ऋग्वेद किसी एक निश्चित समय की कृति भी नहीं है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का अंश प्राचीनतम है। नवम मण्डल का निर्माण इन्हीं मण्डलों की विषयवस्तु के आधार पर हुआ है। आठवाँ मण्डल भी द्वितीय और सातवें मण्डल पर आधारित बतलाया गया है। इन विद्वानों का मत है कि दसवाँ मण्डल अन्य सभी मण्डलों की अपेक्षा नवीन है, प्रथम मण्डल मिश्रित है। इस प्रकार ऋग्वेद ने अपने प्रस्तुत कलेवर को धारण करने में समुचित समय लिया होगा। वह कौन सा समय होगा, इस विषय में भी इन विद्वानों में एकमत नहीं है। परन्तु इसमें सभी एकमत हैं कि वह समय गौतम बुद्ध के उदय-काल से पूर्व भारतीय आर्यों के भारत प्रवेश के पश्चात् की अवधि में कोई समय रहा होगा। कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के समय के विषय में लिखा है कि ऋग्वेद के रचना-काल की खोज करना व्यर्थ प्रयास करना है, क्योंकि इस प्रश्न का निश्चित उत्तर प्राप्त होना असम्भव है।

इतना होने पर भी कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध विद्वान डा० मक्स मूलर ने ऋग्वेद का रचना-काल,

मितानी राजकुमारों के अभिलेख के आधार पर ईसा से पन्द्रहवीं अथवा सोलहवीं शताब्दी पूर्व माना है।[1] कतिपय पाश्चात्य विद्वान पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता और ऋग्वेद के कुछ कथानकों तथा प्रसंगों में समानता देखकर दोनों ग्रन्थों को सम कालीन बतलाते हैं। इस दृष्टि से ऋग्वेद ईसा से छः अथवा सात सौ वर्ष पूर्व की कृति बतलायी जाती है। सुप्रसिद्ध विद्वान जेकोबी ने ऋग्वेद की दो ऋचाओं के आधार पर ऋग्वेद का कुछ अंश ईसा से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का माना है। कोलब्रुक ऋग्वेद का निर्माण-काल ईसा से चौदहवीं शताब्दी पूर्व मानते हैं। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिषशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद का समय ईसा से छः हजार वर्ष पूर्व है।

ऋग्वेद के किन्हीं अंशों की भाषा और अवेस्ता की गाथाओं की भाषा में सादृश्य है, ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है उसके अनुसार ऋग्वेद के इन अंशों की भाषा ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व की बतलायी जाती है। परन्तु ऋग्वेद की विषयवस्तु इस से कहीं प्राचीन है।

इस प्रकार वैदिक ऋचाएँ ऋग्वेद के रूप में जनता के समक्ष सर्वप्रथम कब प्रस्तुत हुई, इस विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं। परन्तु इतना होने पर भी यह निश्चित रूप से सर्वमान्य है कि गौतम बुद्ध के उदय-काल से बहुत पूर्व वेदत्रयी का निर्माण हो चुका था। गौतम बुद्ध के उदय काल के पूर्व वैदिक कर्मकाण्ड पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। भारत की अधिकांश जनता वैदिक कर्मकाण्ड के बाह्य रूप से असन्तुष्ट हो चुकी थी और अनुभव करने लगी थी कि वैदिक कर्मकाण्ड का यह बाह्य रूप मुक्ति एवं शान्ति का साधन नहीं हो सकता अपितु वह इनका बाधक ही होगा। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति भारतीय जनता के इसी असन्तोष के फलस्वरूप जैन और बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। इन धर्मों के प्रादुर्भाव के पूर्व उपनिषद साहित्य और उसके पूर्व आरण्यक और ब्राह्मण साहित्य की रचना क्रमशः हो चुकी थी। इन साहित्यों को अपने अपने पूर्ण विकास को प्राप्त होने में लम्बे समय की आवश्यकता हुई होगी। कतिपय विद्वानों का मत है कि इन विविध श्रेणी के वैदिक साहित्यों को अपने अंतिम स्वरूप को धारण करने में डेढ़ सहस्र वर्ष से कम समय न लगा होगा। इसलिए वैदिक संहिता भाग, इन विद्वानों के

१ हिस्ट्री आफ ऐंशेण्ट संस्कृत लिटरेचर।

मतानुसार, गौतम बुद्ध के उदय काल से डेढ सहस्र वष पूव क इधर का नही हो सकता। उसका निर्माण इसके पूव ही किसी समय हुआ होगा।

वेदो की शाखाए

वदा की अनन्त शाखाए बतलायी गयी है। जनश्रुति के आधार पर वदा की ग्यारह सौ इक्तास शाखाएँ थी। इनम ऋग्वद की इक्कीस यजुर्वेद की एक सौ एक, सामवद की एक सहस्र और अथववद की नौ थी। दुख का विषय है कि इस समय इन ग्यारह सौ इकतीस शाखाओ म अति अल्प सख्या म कुछ ही उपलब्ध हैं अय सभी काल के गाल म पडकर नष्ट हो चुकी हैं। ऋग्वद की इक्कीस शाखाओ म केवल दो शाखाए प्राप्त हैं। ऋग्वेद की य प्राप्त दो शाखाए शाकल और वाष्कल है। कतिपय विद्वान् ऋग्वेद की तीसरी शाखा वालखिल्य नाम की बतलाते है। परन्तु इन तीनो शाखाओ मे शाकल शाखा मात्र पूण है अय दो शाखाए अपूण हैं। वालखिल्य शाखा के केवल सूक्त प्राप्त हैं जिन्हें शाकल शाखा के आठवें मण्डल म स्थान देकर ऋग्वद की वालखिल्य शाखा का स्वरूप स्थिर किया जाता है। लगभग यही बात वाष्कल शाखा पर भी चरिताथ होती है। औंध, सतारा से श्री सातवलेकर द्वारा ऋग्वद की जो पोथी प्रकाशित हुई है उसम अस्सी मत्र शाकल शाखा म यत्र-तत्र जोडकर खिलसूक्त की वद्धि कर, वाष्कल शाखा का स्वरूप स्थिर किया गया है। इस प्रकार, वास्तव म केवल इसकी शाकल शाखा नाम की एकमात्र शाखा अपने पूण रूप म उपलब्ध है। इस शाकल शाखा म दस सौ सत्रह सूक्त और दस सहस्र चार सौ बहत्तर ऋचाए (मत्र) हैं।

यजुर्वेद दो रूपो म पाया जाता है जो कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के नाम स प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत म कृष्ण यजुर्वेद और उत्तर भारत म शुक्ल यजुर्वेद का अधिक प्रचार है। कृष्ण यजुर्वेद गद्य और पद्य (छन्द) दोनो से सयुक्त है। इसम इसका ब्राह्मण भी सम्मिलित है। इस प्रकार कृष्ण यजुर्वेद मे मत्रभाग तथा ब्राह्मणभाग दोनो को स्थान दिया गया है और इन दोनो का एकत्र समुच्चय कृष्ण यजुर्वेद नाम से सम्बोधित किया जाता है। परन्तु शुक्ल यजुर्वेद इस रूप म नही है। इसम केवल मत्रभाग है जो छन्दोबद्ध है। शुक्ल यजुर्वेद म इसके ब्राह्मण को इससे पथक रखा गया है। इस प्रकार आधुनिक समय म यजुर्वेद, कृष्ण और शुक्ल इन दो रूपो म उपलब्ध है। इन दोनो म किसे प्राचीन समझा जाय यह प्रश्न व्यथ उठाना है। इसका सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होना असम्भव है। कतिपय विद्वान कृष्ण यजुर्वेद के शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन होने के पक्ष म

पूरा प्रमाण देते हैं। दूसरे विद्वान शुक्ल यजुर्वेद को कृष्ण यजुर्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन बताते हैं। परन्तु इन दोनों कोटि के विद्वानों द्वारा दिए गये प्रमाण पूर्ण प्रमाण कोटि में नहीं आते।

कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद की शाखायें भी भिन्न हैं। … भी प्रत्येक के आधार पर यजुर्वेद की एक सौ एक शाखायें होनी चाहिए। परन्तु वर्तमान काल में कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें और शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें प्राप्त होती हैं। इस प्रकार यजुर्वेद की कथित एक सौ एक शाखाओं में केवल छः शाखायें उपलब्ध हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता और मैत्रायणी संहिता हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो उपलब्ध शाखायें माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों शाखाओं में बहुत कम अन्तर है।

इसी प्रकार सामवेद की एक सहस्र शाखाओं में केवल तीन शाखायें उपलब्ध हैं। सामवेद की ये तीन शाखायें कौथुमी, राणायनीय और जैमिनीय हैं। अथर्ववेद की नौ शाखायें बतलाई गयी हैं। परन्तु इन नौ में केवल दो शाखायें प्राप्त हैं। अथर्ववेद की ये दो प्राप्त शाखायें पैप्पलाद संहिता और शौनक संहिता हैं।

(ख) ब्राह्मण साहित्य—वैदिक साहित्य में ब्राह्मण साहित्य में प्रत्येक वेद के पृथक पृथक ब्राह्मण परिगणित किए गए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध प्रकार के यज्ञों तथा उनके विधिवत सम्पन्न होने से सम्बन्धित कर्मकाण्ड के कृत्यों, उपाख्यानों, विविध स्तुतियों आदि का विशद एवं स्तुत्युक्त वर्णन है। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य यज्ञिक कर्मकाण्ड प्रधान है। जिस प्रकार प्रत्येक वेद की अपनी पृथक शाखाएँ हैं उसी प्रकार उनके ब्राह्मण भी पृथक हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं जो ऐतरेय ब्राह्मण और कौशीतकी ब्राह्मण हैं। कौशीतकी ब्राह्मण शांखायन ब्राह्मण के नाम से भी विख्यात है। ऐतरेय ब्राह्मण इतरा के पुत्र ऐतरेय महिदास के नाम से सम्बद्ध है। ऐसा ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का यह ब्राह्मण इन्हीं की कृति है। छान्दोग्य उपनिषद में भी ऐतरेय महिदास का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद के इस प्रसंग में उन्हें यज्ञ-स्वरूप का विख्यात ज्ञाता बतलाया गया है। यज्ञ के प्रभाव से रोग उन्हें पीड़ित न कर सके और उसी के प्रभाव से उन्होंने एक सौ सोलह वर्ष की आयु का भोग किया था।[1] कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के इन दो पृथक रूपों के अनुसार उनके ब्राह्मण भी उसी प्रकार भिन्न हैं। कृष्ण यजुर्वेद

१ ७।१६।३ छान्दोग्य उपनिषद।

का ब्राह्मण तैत्तिरीय और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ है। शतपथ ब्राह्मण विशालकाय ग्रन्थ है। इसम शतपथ अथवा सौ अध्याय हैं। सामवेद के तीन ब्राह्मण इस समय उपलब्ध हैं। सामवद के ये तान ब्राह्मण ताण्डय महाब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण हैं। अथववेद का केवल एक ब्राह्मण है। वह है गोपथब्राह्मण। यह बहुत प्राचीन नही है अन्य ब्राह्मण ग्रन्था की अपेक्षा नवीन है।

इस प्रकार चारा संहिताओ के अपने अपने ब्राह्मण हैं, जिनका समुच्चय ब्राह्मण साहित्य कहलाता ह।

(ख) आरण्यक साहित्य—वदिक युग म तपस्वी ब्राह्मणा न अरण्य वास कर वदा के रहस्या का समझन का सतत प्रयास किया है—अपन गम्भीर चिन्तन द्वारा इन रहस्या को जानकर लाक-कल्याण भावना से अपन निणया को गुरु शिष्य परम्परा द्वारा जनता तक पहुँचाने का निरन्तर प्रयास किया है। उनके इन्हा प्रयासा का फल आरण्यक साहित्य है। इनम प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि के समझाने की चेष्टा की गयी है। यह साहित्य मनुष्यमात्र का परमाथ की ओर आकृष्ट करता है और उसकी प्राप्ति हेतु उन्हें प्रेरित करता है।

ऋग्वद का आरण्यक उसके ब्राह्मण के समान ही पथक आरण्यक है। इस का केवल एक आरण्यक उपलब्ध है जा कौशीतकी आरण्यक नाम से विख्यात है। इसी प्रकार यजुर्वेद के उसके कृष्ण और शुक्ल भेद के अनुसार, आरण्यक भी पथक ही है। कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक तत्तिरीयारण्यक और शुक्ल यजुर्वेद का बहदारण्यक है। यह आरण्यक साहित्य सासारिक बधना स मुक्ति प्राप्ति का साधन समझा जाता है।

(ग) उपनिषद साहित्य—वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद साहित्य कहलाता है। उपनिषद का अथ है समीप बठना। अर्थात जा साहित्य जीव को ब्रह्म के निकट पहुँचान म सहायक है वह उपनिषद् कहलाता है। वदिक युग मे ऋषि मुनिया न आश्रम वास कर जाव ब्रह्म आत्मा, प्रकृति आदि गम्भीर विषयो पर चिन्तन एव मनन किया है। उपनिषद् साहित्य उनके इस चिन्तन एव मनन के अनुभव का फल है। उपनिषद् साहित्य मनुष्यमात्र को परमाथ की ओर ले जाने म सहायक है और सासारिक बधनो से मुक्त होन के पुष्ट साधना एव उपाया का दिग्दशन कराता है। उपनिषद भी प्रत्येक वेद के अनुसार, ब्राह्मण और आरण्यका की भाँति ही पथक-पथक हैं। या तो उपनिषदो की सख्या की सूची बडी लम्बी है परन्तु इनमे मुख्य दस उपनिषद हैं। ये दस उपनिषद ईश कन, प्रश्न, कठ मुण्डक माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदार-

ण्यक है। कुछ विद्वान मुख्य उपनिषद ऐतरेय, कौशीतकी, तत्तिरीय श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक ईश केन, कठ छान्दोग्य, मुण्डक माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषदों को ही बतलाते हैं। यों तो १३५ उपनिषद् बतलायी जाती है किन्तु मुक्तिकोपनिषद में उनकी संख्या १०८ बतलायी गयी है।

उपनिषद साहित्य भी प्रत्येक वेद का अपना पृथक है। ऋग्वेद की प्रमुख उपनिषद एतरेय है। कृष्ण यजुर्वेद की चार उपनिषदें बतलायी जाती है। वे हैं कठ, श्वेताश्वतर तत्तिरीय और मैत्रायणी। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की ईश और बृहदारण्यक नाम की उपनिषद हैं। केन और छान्दोग्य ये दो उपनिषद सामवेद की बतलायी जाती है। अथर्ववेद की भी तीन उपनिषद है। ये तीन उपनिषदें मुण्डक प्रश्न और माण्डूक्य है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य विशाल तथा अत्यन्त उपयोगी साहित्य है। इसमें लौकिक एवं पारलौकिक—मनुष्य के दोनों कल्याण हेतु साधना एवं उपाय बतलाये गये है।

वैदिक साहित्य में राजनीतिक सामग्री

ऋग्वेद के निर्माण काल के पूर्व भारतीय जनता ने किस प्रकार की राज्य व्यवस्था स्थापित की थी एवं उसके राजनीतिक सिद्धान्तों की क्या रूपरेखा थी, इस विषय का बोध कराने के लिए प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। पुरातत्त्व विभाग के अधीन कतिपय प्राचीन स्थानों की खुदाई हुई है। इस खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री भी प्राप्त हुई है जो ऋग्वेदीय युग के पूर्व की बतलायी जाती है यद्यपि सभी विद्वान इससे सहमत नहीं है। परन्तु यह सामग्री भी अपने युग की जनता के राजनीतिक जीवन का परिचय देने में विशेष सहायक नहीं है और इस प्रकार उस सामग्री के आधार पर उस युग की जनता के राजशास्त्र सम्बन्धी विचारों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में भारतीय जनता के प्राचीनतम राजनीतिक विचारों के बोध कराने एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं का परिचय प्राप्त करने के निमित्त एकमात्र ऋग्वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु ऋग्वेद में भी इस विषय का जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है वह सब की सब अस्पष्ट है। इसमें केवल कुछ संकेत मात्र हैं। इस अस्पष्ट एवं सांकेतिक सामग्री के आधार पर ऋग्वेदीय युग के आर्यों के राजनीतिक जीवन का विधिवत परिचय

प्राप्त करना अत्यन्त जटिल एव दुरूह समस्या है। यही बात अन्य तीन वदा के विषय मे भी है।

परन्तु इतना होने पर भी वैदिक साहित्य म विविध यना एव उनके कृत्या का वणन विधिवत पाया जाता है, ब्राह्मण साहित्य म उनका विशेष उल्लेख है। इन यना म कुछ ऐसे यज्ञ भी हैं—राजसूय अश्वमेध सामयन, सवमेघ यन इत्यादि—जिनका राजाग्रा स विशेष सम्बन्ध है। इन यना के कृत्या एव उनकी विविध पद्धतिया के वणना म कुछ ऐसे प्रसग ग्रा जाते हैं जिनम राजा की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध कतव्या उससे सम्बन्धित कतिपय विशेष पुरुषा एव सस्थाग्रा आदि का वणन है। इन प्रसगा क गम्भीर अध्ययन के उपरान्त कतिपय वैदिक राजनीतिक सिद्धान्ता का भी बोध हो जाता है, और इस प्रकार वदिक युग के राजनीतिक सिद्धान्ता के स्वरूप की स्थापना करने के निमित्त किसी अश म सहायता प्राप्त हो जाती है। राजनीति के विद्यार्थी के लिए यह सहायता बडे महत्त्व की है।

इस मूल्यवान एव महत्वपूण सामग्री के अतिरिक्त वेदा म प्रसगवश कुछ ऐसे कथोपकथन भी मिलते ह जिनम वदिक युग की राजनीतिक स्थिति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पडता है। इस सामग्री का विवेकपूण उपयोग करने से उस युग के कतिपय राजनीतिक सिद्धान्ता का परिचय प्राप्त करन म सहायता मिल जाती है। उदाहरण के लिए पणिया के राजा और सरमा का सवाद विशेष रूप म उल्लेखनीय है।[1] इस सवाद क गम्भीर एव विवेकपूण अध्ययन से वदिक युग की दूत व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पडता है।

उपयुक्त सामग्री के अतिरिक्त वेदा म यत्र-तत्र कतिपय ऐसे सकेत हैं जिनका राजनीतिक महत्त्व है। इस श्रेणी की सामग्री अन्य दो वदा की अपेक्षा ऋग्वद और अथववद म अधिक है। इस सामग्री म सभा समिति, विदथ आदि सस्थाग्रा का उल्लेख वदिक सेना एव युद्ध का सांकेतिक वणन राजा की उत्पत्ति, उसके विशेष गुण एव उसकी योग्यता उसके विशेष कतव्या आदि का सांकेतिक उल्लेख आदि विशेष महत्त्वपूण है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य म राजनीतिक सामग्री अस्पष्ट एव सांकेतिक भाषा म है जो अल्प एव सीमित है। परन्तु उपयुक्त जो कुछ भी अल्प एव सीमित सामग्री

१ १ से १११।१०८।१०, ऋग्वेद।

उपलब्ध है वह परम उपयोगी है। उसे संचित कर उसका विश्लेषण करने के उपरान्त उसका गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन करने पर वदिक युग के राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। इस सीमित अल्प एवं अस्पष्ट सामग्री से यह ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में कई ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनकी स्थापना वदिक ऋषियों ने राज्य-संगठन हेतु की थी और जिनका प्रयोग वदिक आर्यों ने सम्भवत सर्वप्रथम किया था। यह उनकी मौलिक देन है। इन सिद्धान्तों में समयानुसार विकास होता रहा। समय की गति एवं जनता की माग के अनुसार उनमें संशोधन एवं परिवर्द्धन होते रहे और वे अपनी संशोधित एवं परिवर्द्धित अवस्था में आधुनिक युग में भी सक्रिय रूप में पाये जाते हैं। इन सिद्धान्तों को कायरूप में परिणत करने के लिए उन्हें कतिपय संस्थाओं (Institutions) का भी निर्माण करना आवश्यक था। अत उन्होंने कतिपय संस्थाओं का भी निर्माण किया था। इनमें से कुछ संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में है। यह संस्थाएं भी समय की गति एवं उसके प्रवाह के साथ साथ गतिशील रहीं और आवश्यकतानुसार अपना कलेवर बदलती हुई विकास को प्राप्त होती रहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इन संस्थाओं में कुछ ऐसी संस्थाएँ भी थीं जो कुछ समय के उपरान्त अनुपयोगी सिद्ध होने लगीं और इसलिए जनता ने शनै शनै उनका त्याग सर्वदा के लिए कर दिया। इसी कारण आज हमारे जीवन में उनका कहीं पता नहीं चलता यद्यपि यह संस्थाएँ अपने युग में महान उपयोगी रहीं और अपनी समकालीन जनता की सक्रिय रूप में सेवा करती रहीं। यद्यपि इन लुप्त हुई संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनके कलेवर संगठन कर्त्तव्य अधिकारों आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, समयानुसार होते आये हैं तथापि वह अपने इन परिवर्तनों के साथ आज भी जीवित एवं जाग्रत हैं और हमारे राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए हैं। इसलिए उक्त सिद्धान्तों संस्थाओं पद्धतियों आदि के प्राचीनतम स्वरूप एवं उनके आकार प्रकार संगठन कार्यक्षेत्र प्रभाव आदि के परिचय हेतु वदिक साहित्य की उपयोगिता परम महत्त्वशालिनी है। इस दृष्टि से राजनीति के इतिहास में वैदिक साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसके अध्ययन की उपेक्षा करने से भारतीय राजनीति शास्त्र अपंग रहेगा और आधारहीन हो जायगा।

वदिक साहित्य में जैसा कि ऊपर लिखा गया है राजनीति सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख है। वैदिक साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कुछ चिह्न प्राप्त हैं। यद्यपि यह चिह्न वदिक देवों सिद्धान्त का उसके पूर्वरूप अर्थात्

अविकसित रूप म ही लक्षित करते है तथापि इसकी अपनी विशेषता एव उपयोगिता है। वदिक युग के उपरान्त समय के प्रवाह के साथ साथ वदिक दैवी सिद्धात म निरतर विकास होता रहा और तदनुसार उसका उपयोग भारतीय जनता के राजनीतिक जीवन म निरतर होता रहा। मानव धमशास्त्र के रचना-काल मे राजा ने साक्षात देवरूप धारण कर लिया था। इतना ही नही वरन् इस सिद्धात न पाश्चात्य देशा के राजनीतिक जीवन म भी महत्त्वपूण स्थान ग्रहण कर लिया था, यद्यपि इसका स्वरूप वदिक दवी सिद्धात से नितात भिन्न था और यह सिद्धान्त मध्यकालिक यूरोप के राज नीति चिन्तका क मस्तिष्क की अपनी निजी उपज का परिणाम था। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के समाज अनुबधवाद के जमदाता, सम्भवत वैदिक ऋषि ही थे। वदिक सहिताग्रा म इस सिद्धात की स्थापना के अनेक प्रमाण हैं। वदिक समाज अनुबधवाद सिद्धात म भी समय की गति के साथ साथ विकास होता रहा और महाभारत के अनुशासनपव के सकलन-काल तक यह सिद्धात अपने पूण विकास को प्राप्त हो गया था। मध्यकालिक यूरोप म भी इस सिद्धात की बडी महिमा रही यह उनकी अपनी निजी खोज का परिणाम था। इस सिद्धात ने पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्ता एव तत्सम्बधी सस्थाग्रा के स्वरूप, आकार प्रकार सगठन कतव्य क्षेत्र आदि म महत्त्वपूण परिवतन किय हैं। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के समाज अनुबधवाद सिद्धात के प्राचीनतम स्वरूप का जानने के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवाय है। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति का विकास सिद्धात राज्य का आवयविक स्वरूप राज्य का पतक स्वरूप राज्य की प्रभुता का सिद्धात समानता एव स्वतत्रता का सिद्धान्त शोषण प्रवत्ति की रोक-थाम का सिद्धात राजभक्ति एव देशभक्ति सिद्धात मानवता का सिद्धात आदि आधुनिक सिद्धान्ता के प्राचीनतम स्वरूपा का सम्यक बोध वैदिक साहित्य के अध्ययन के बिना किसी प्रकार भी सम्भव नही है। इस दष्टि स राजनीति शास्त्र के इतिहास म वैदिक साहित्य अति प्राचीन होने पर भी, आधुनिक एव महत्त्वपूण है। राजनीति के जिज्ञासु के लिए वदिक साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा करना भारी भूल होगी।

वैदिक राजनीतिक सिद्धान्ता के अध्ययन में असुविधाएँ

प्राचीन भारतीय राजनीति का उद्गम स्थान ऋग्वेद है। ऋग्वेद मुक्तक साहित्य का ग्रथ है। ऋग्वेद म अनेक ऋषिया के विचार विभिन्न विषया पर मुक्तक ऋचाग्रो म दिये हुए हैं। इन ऋचाग्रो म विषय की दष्टि स परस्पर सम्बध नही है। प्रत्येक

अपूर्ण रूप में ही पूर्ण है। इसलिए ऋग्वेद में किसी एक विषय अथवा सिद्धान्त का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में प्राप्त राजनीतिक सामग्री पर भी यही नियम लागू होता है। ऋग्वेद में राजनीति विषयक ऋचाएं सम्पूर्ण ग्रन्थ में, यत्र-तत्र मुक्तक छन्दों के रूप में बिखरी हुई हैं। राजनीति परक इन ऋचाओं में भी राजनीति विषय का स्पष्ट वर्णन नहीं है। इन ऋचाओं में राजनीति सम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध है वह सम्पूर्ण सामग्री संकेत रूप में ही है। इस सांकेतिक सामग्री के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनीति का स्पष्ट स्वरूप स्थिर करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ में बिखरी हुई इस सामग्री का संचय करना और फिर उसका विश्लेषण कर उसे सैद्धान्तिक रूप दे देना कोई साधारण कार्य नहीं है। यही बात अन्य तीन संहिताओं के विषय में भी है। इन तीन संहिताओं—यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—में भी राजनीति विषय का न तो क्रमबद्ध वर्णन ही मिलता है और न उसका कहीं स्पष्ट उल्लेख ही है। इन परिस्थितियों में वैदिक राजनीति के स्वरूप को स्थिर करना एवं उसके प्राचीन सांकेतिक अस्पष्ट भाषा में संकेतित राजनीतिक सिद्धान्तों के स्वरूप की स्थापना करना अत्यन्त गहन एवं जटिल समस्या का रूप धारण कर लेता है।

संहिताओं के उपरान्त ब्राह्मण साहित्य का स्थान है। इस साहित्य में वैदिक यज्ञों एवं तत्सम्बन्धी कृत्यों तथा पद्धतियों की तात्त्विक विवेचना का प्राधान्य है। राजनीति सम्बन्धी जो कुछ भी सामग्री इस साहित्य में उपलब्ध है वह सब की-सब वैदिक कर्मकाण्ड से ओतप्रोत है। अतः इस सामग्री से शुद्ध राजनीतिक सामग्री का संचय और उसका विश्लेषण करने के उपरान्त उसके शुद्ध स्वरूप का संस्थापन करना अति गहन समस्या है। इन्हीं असुविधाओं के कारण राजनीति सम्बन्धी इस सामग्री ने शुद्ध एवं स्पष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों का स्वरूप धारण नहीं कर पाया है।

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य के इन प्रसंगों में वर्णित पारिभाषिक पदावली, संस्थाओं, पद्धतियों, परम्पराओं आदि का जो प्रयोग एवं उल्लेख है उनका वास्तविक अर्थ एवं उनके वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेना अत्यन्त गहन समस्या है। आज कोई भी ऐसा पुष्ट साधन उपलब्ध नहीं है जिसके द्वारा वैदिक पारिभाषिक पदों या शब्दों का स्पष्ट एवं यथार्थ बोध हो सके। आधुनिक युग के मनुष्य के लिए वैदिक संस्कृत भाषा के वास्तविक रहस्यों को समझ लेना असम्भव है।

वैदिक युग का अवशेष साहित्य आरण्यक और उपनिषद् साहित्य, ब्रह्मज्ञान प्रधान

है। इस साहित्य म राजनीति मम्बन्धी विषया का प्राय अभाव है। इसलिए वदिक राजनीतिक सिद्धान्तो क अध्ययन हेतु यह साहित्य विशेष उपयोगी नही है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष असुविधा यह भी है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य म एक भी ऐसा ग्रन्थ अथवा प्रसग नहा है जो शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखा गया हो। इन परिस्थितियो म यह कहना उपयुक्त ही है कि वदिक आर्यों क राजनीतिक विचारो के बोध हेतु आधुनिक युग म एक भी पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नहा है।

उपर्युक्त असुविधाओ के कारण वदिक राजनीति के स्वरूप का निर्धारण एव उसके अन्तगत विविध सिद्धान्तो की रूपरेखा का निश्चय करना और फिर उनका मूल्याकन करना गहन एव जटिल समस्या है।

अध्याय २

वैदिक समाज के तत्व

वैदिक समाज का निर्माण और उसका स्वरूप

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मंत्र हैं जिनमें समाज निर्माण की प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेद के इन मंत्रों में समाज निर्माण की अनूठी योजना की रूपरेखा दी गयी है। इस योजना से ज्ञात होता है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज शाश्वत है। वह मनुष्यकृत नहीं है। वह देवकृत संस्था है। वैदिक समाज भौगोलिक प्रतिबन्धों से मुक्त है। वह किसी विशेष स्थान, प्रान्त अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहता। उसका क्षेत्र मनुष्य मात्र तक है। प्रभु ने स्वयं कार्य विभाजन सिद्धान्त के आधार पर समाज का निर्माण किया है। इस पृथ्वी तल पर मनुष्य समाज में ही उत्पन्न होता है उसकी सम्पूर्ण लीलाएँ समाज में ही होती हैं और समय आने पर समाज में ही उसका अन्त होता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज का जन्म सृष्टि रचना के साथ ही हुआ है। इसलिए मनुष्य के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आता जब समाज का अन्त होता हो। इतना अवश्य है कि समाज को अपने इस लम्बे जीवन-काल में कभी कभी विशेष विषम परिस्थितियों में प्रवेश कर जीवन निर्वाह करना पड़ता है और उन विशेष परिस्थितियों में समय, परिस्थिति तथा स्थान के अनुसार कुछ ऐसी घटनाएँ तथा ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जिनके कारण समाज दूषित एवं विकृत हो जाता है। इन विषम परिस्थितियों से समाज के उद्धार हेतु कतिपय विशिष्ट महापुरुषों की आवश्यकता होती है जो समय समय पर इस भूतल पर जन्म लेते रहते हैं और समाजोद्धार में यथासम्भव सम्यक् योगदान देकर समाज को इन विकारों से मुक्त रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। समाज के लम्बे इतिहास में ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती है।

समाज शाश्वत एवं देवकृत है, वह भौगोलिक प्रतिबन्धों से मुक्त है, आदि तथ्यों को ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं में स्पष्ट करते हुए इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—अखिल ब्रह्माण्ड एक महामानव अथवा विराट पुरुष माना गया है। उस विराट पुरुष का नेत्र सूर्य है, उसका मन चन्द्रमा, उसके कान और प्राण वायु हैं। उसका

ुख अग्नि, उसकी नाभि अन्तरिक्ष, उसका मस्तक द्यु लोक और उसके पाद पृथ्वी हैं।[1] :सी प्रकार उस विराट् पुरुष में ही समाज का भी निर्माण हुआ है।

ऋग्वद के इन मत्रा के अनुसार मनुष्य चार मुख्य श्रणियाँ म विभक्त होत है। वद म इन चार श्रेणिया को ब्राह्मण, राजन्य वश्य और शूद्र की सना दी गयी है। इनकी उत्पत्ति भी उमी विराट पुरुष के विविध अगा म बतलायी गयी है। विराट पुरुष के मुख स ब्राह्मण बाहुआ से राजन्य, जघाआ स वश्य और परा से शूद्र का उत्पत्ति हुइ है वेद का एसा मत है।[2] कालान्तर म इन चार श्रेणिया को चातुवर्ण्य की सना दी गयी आर जिसे भारतीय समाज का आधार माना गया है। भारतीय समाज का सगठन एव उसका विकास इसी चातुवर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर हुआ है। इस प्रकार वेद मत क अनुसार समाज का निमाण सृष्टि रचना के साथ ही हुआ है।

इस दष्टि स समाज शाश्वत है। मनुष्य उसी समाज का सदस्य है उसी समाज म वह जीवनपयन्त काय करता रहता है और अन्त म वह उसी समाज म विलान हो जाता है। समाज निमाण के इस सिद्धान्त को ऋग्वदीय युग के उपरान्त, प्राचीन भारत म, लगभग सभी समाज शास्त्रिया न स्वाकार कर उसे मान्यता दी है। उन्हान भी समाज को शाश्वत एव दवकृत माना है। इसा आधार पर उन्हान सामाजिक धम को शाश्वत एव पुनीत मानकर उसका प्रतिष्ठा की है।

समाज क गुण

ऋग्वेद में समाज निमाण तथा उसके सगठन पर जो विचार व्यक्त किये गये है, उनक गम्भीर एव विवेकपूण अध्ययन स नात होता है कि ऋग्वेदीय ऋषिया ने समाज के सम्यक सचालन हेतु कतिपय विशेष गुणा की आवश्यकता अनुभव की थी। ऋग्वद के इस प्रसग क आधार पर ऐसा स्पष्ट है कि समाज के अस्तित्व के निमित्त ये गुण हान अनिवाय हैं और इन्ही गुणा के आधार पर समाज के सदस्या म काय वितरण हाना चाहिए। समाज क य गुण बुद्धि, रक्षणशक्ति, भरण-पोषण की सामथ्य, श्रमशक्ति और मौलिक एकता तया समानता हैं। समाज म बुद्धि ब्राह्मण रक्षण शक्ति राजन्य, भरण-पोषण की सामथ्य वश्य और श्रमशक्ति शूद्र हैं। समाज के ब्राह्मण राजन्य वैश्य और शूद्र यह सभी एक ही विराट पुरुष के अग हैं यद्यपि उनके पथक्-पृथक कतव्य

१ १३।९०।१० ऋग्वेद। २ १२।९०।१० ऋग्वेद।

निर्धारित हैं। एक ही पुरुष के शरीर के विविध अंग होने के कारण उनमें मौलिक एकता तथा समानता है। ऋग्वेद के अनुसार वही आदर्श समाज है जिसमें कार्य विभाजन की इस योजना के आधार पर समाज का गठन है।

ऋग्वेद के इस प्रसंग के अनुसार वर्णित समाज के उपर्युक्त पाँच गुण होते हैं। इन्हीं पाँच गुणों को धारण किये रहने पर समाज का अस्तित्व निर्भर है। समाज के इन गुणों के अविकृत एवं शुद्ध रहने पर समाज लोक के लिए आदर्श समाज रहता है। जब तक उसके यह गुण अपने स्वाभाविक रूप में बने रहते हैं तब तक वह वैसा ही बना रहता है। यूनान के प्रमुख सुविख्यात दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने अपने आदर्श नगर राज्य (City State) के लिए लगभग इन्हीं गुणों का निर्धारण किया है। उसका मत है— जब राज्य की जनता में कार्य विभाजन इन गुणों के आधार पर होता है आदर्श राज्य का निर्माण होता है और इस प्रकार के राज्य में सभी व्यक्तियों वर्गों तथा संस्थाओं आदि का समान कल्याण होता है और सर्वोदय होता है।

समाज का उद्देश्य

समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व समाज के सदस्यों में समान उद्देश्य का होना है। इसलिए ऋग्वेदीय समाज का भी एक उद्देश्य होना चाहिए। ऋग्वेद में समाज के उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में कहीं भी व्यक्त नहीं किया गया है। परन्तु समाज का वर्णन जिस रूप में ऋग्वेद में उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि जिस उद्देश्य को समक्ष रखकर वैदिक समाज का निर्माण हुआ है वह यह है कि समाज के सभी सदस्य ऐसा जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें जिस जीवन में उन्हें इस लोक में सुख और शान्ति की प्राप्ति हो और मरणोपरान्त परलोक में अक्षय आनन्द की प्राप्ति हो सके, जिसे मोक्ष प्राप्ति के नाम से सम्बोधित किया गया है। वैदिक आदर्शों के अनुसार मानव जीवन का यही उद्देश्य है इसी की प्राप्ति-हेतु मनुष्य के लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा देना एवं उसके मार्ग में उपस्थित होने वाले विघ्न बाधाओं का शमन कर उसे प्रशस्त एवं सुगम बनाना समाज का काम है।

गुणानुसार कार्य निर्धारण

जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य कोई न कोई व्यवसाय अवश्य धारण करता है। अपने अपने विशेष गुण एवं स्वभाव के अनुसार मनुष्यों में भिन्नता होती है। एक ही प्रकार का कार्य सभी मनुष्यों के लिए न तो अनुकूल ही होता है और न समाज के लिए ही हित

कर। इसलिए व्यवसाय की दृष्टि से वह समाज श्रेष्ठ समझा जाता है जिसमें उसके सभी सदस्य अपने अपने गुण स्वभाव एवं कार्यक्षमता के अनुसार व्यवसाय धारण करते हैं। आधुनिक युग में व्यवसाय की दृष्टि से प्रायः अस्तव्यस्तता दिखलाई देती है। भारत में तो इसका विकट रूप पाया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस देश में व्यवसाय एवं धंधे सुचारु रूप में नहीं चलते हैं। उनमें आशानुसार विकास एवं प्रगति नहीं हो रही है। सभी ओर व्यवसाय एवं कामधंधा में प्रायः शैथिल्य प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। मनुष्य को उसकी रुचि के अनुसार कार्य न मिलने पर उसका समस्त उत्साह एवं साहस नष्ट हो जाता है। इसीलिए अपने तथा लोक कल्याण के हेतु यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं अपने गुण, स्वभाव और कार्यक्षमता को भली भांति जान रखे और तदनुसार व्यवसाय धारण करे।

इस तथ्य को वैदिक ऋषियों ने भली भांति समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने मनुष्य के लिए विविध व्यवसायों के निमित्त व्यवसाय के अनुसार पृथक्-पृथक् उपयुक्त गुणों का उपदेश करना न्याययुक्त समझा था जिससे मनुष्य उनसे अवगत होकर अपने गुण स्वभाव एवं अपनी कार्यक्षमता के अनुरूप व्यवसाय धारण कर सके तथा तदनुसार अपने और अपने समाज के कल्याण-साधन में योगदान कर सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वैदिक ऋषियों ने मनुष्यों का निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। अपने इस निरीक्षण में वे कुछ निर्णयों पर पहुँचते दिखलाई पड़ते हैं और लोक-कल्याण हेतु इन निर्णयों को उन्होंने लोक के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनकी यह सेवा महान एवं चिरन्तन है। उनकी इस सेवा के लिए लोक उनका सदैव ऋणी रहेगा। इस विषय के कतिपय उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं।

विविध व्यवसायों एवं कार्यों के अनुरूप गुण स्वभाव तथा कार्यक्षमता का उल्लेख यजुर्वेद में संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—ब्रह्मज्ञान के उन्नयन हेतु ब्राह्मण, रक्षा कार्य सम्पादन हेतु क्षत्रिय, कृषि पशुपालन व्यापार आदि के लिए वैश्य, कठोर परिश्रम के लिए शूद्र को, अन्धकार में कार्य करने के लिए चोर को, विषय मदन के लिए व्यभिचारिणी और निन्दा के लिए नीच पुरुष को जानना चाहिए।[1] नृत्त के लिए सूत, गीत के लिए गायक, न्याय सम्पादन हेतु सभासद्, प्रमोद के लिए स्त्री सखा, सेवा के लिए रथकार और धैर्य के लिए तक्षा को जाने।[2] ताप क्रिया

१ ५।३० यजुर्वेद। २ ६।३० यजुर्वेद।

के लिए कुम्भकार आश्चर्यपूर्ण रचना के लिए लोहार सौंदर्य के लिए मणिकार, शोभा के लिए माली, बाण निर्माण के लिए इषुकार, क्रूरता के लिए व्याध और मृत्यु दण्ड के लिए कुत्ता द्वारा आखेट करने वाला को जानना चाहिए।[1] नदी के लिए मछुआ, गमनागमन करने वाला नौका के लिए निषाद, मंत्र विद्या के लिए साहसी, पासा के लिए जुआरी और श्रम-उद्योग के लिए जुआ न खेलने वाले को जानना चाहिए इत्यादि।

इस प्रकार यजुर्वेद में विविध प्रकार के व्यवसायों तथा कार्यों और उनके अनुरूप मनुष्य के गुण स्वभाव तथा कार्यक्षमता का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रसंग में यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि समाज में व्यवसायों एवं धंधों को धारण करने के लिए वेद में जो इस प्रकार मनुष्य के गुण स्वभाव और उसकी कार्यक्षमता का पृथक पृथक उल्लेख है समाज के आर्थिक कल्याण हेतु परम उपयोगी है। वेद की यह लोक-सेवा मनुष्य के आर्थिक जीवन में अद्वितीय एवं अपूर्व है। परन्तु इस विषय में यह स्मरण रहे कि वेद में उल्लिखित व्यवसाय सम्बन्धी यह विशेषताएं तत्सम्बन्धी सिद्धान्त मात्र को लक्षित करने के लिए दी गयी है। समय, परिस्थिति एवं स्थान के अनुसार उनके बाह्य रूप में परिवर्तन संशोधन अथवा परिवर्द्धन यथासम्भव किया जा सकता है। परन्तु मौलिक सिद्धान्त शाश्वत ही रहेगा।

समाज निर्माण का आवयविक सिद्धान्त

समाजशास्त्र के इतिहास में वैदिक साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मानव इतिहास में सम्भवतः ऋग्वेद सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसमें 'आवयविक सिद्धान्त' का आश्रय सृष्टि रचना एवं समाज निर्माण में किया गया है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। इस प्रसंग में अखिल ब्रह्माण्ड का समष्टि रूप महामानव अथवा विराट् पुरुष माना गया है। उसी विराट पुरुष के विविध अंगों प्रत्यंगों से ब्रह्माण्ड जाग्रत अवस्था में आया है और तदनुसार व्यक्त हुआ है। उस विराट पुरुष में असंख्य शीर्ष, असंख्य मुख, असंख्य नेत्र असंख्य हाथ-पैर आदि शरीर के विविध अंगों की कल्पना की गयी है।[3] उसी विराट् पुरुष के अंगों प्रत्यंगों में ग्राम तथा अरण्यवासी प्राणियों एवं पदार्थों

१ ७।३० यजुर्वेद। २ ८।३० यजुर्वेद। ३ १।९०।१० ऋग्वेद।

की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1] इसी प्रकार उसी विराट् पुरुष के शरीर के विविध अवयवों से विविध प्रकार की चल और अचल सृष्टि का सृजन हुआ है।

ऋग्वेद में वर्णित सृष्टि रचना सम्बन्धी उपर्युक्त प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आवयविक सिद्धान्त की सर्वप्रथम स्थापना, इस लोक में ऋग्वेदीय युग में हुई थी। इसी प्रकार समाज का निर्माण भी उसी विराट् पुरुष के विविध अवयवों से हुआ है, ऐसी कल्पना कर समाज के आवयविक स्वरूप की भी स्थापना की गयी है। इस दृष्टि से समाज निर्माण के आवयविक सिद्धान्त का आदिस्रोत ऋग्वेद को मानना भी न्यायोचित होगा।

१ ८।९०।१० ऋग्वेद।

अध्याय ३

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

वैदिक साहित्य में आर्यों के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन है। उनका रूप सूक्तात्मक है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रधानतः धार्मिक साहित्य के रूप में ग्रन्थ रूप उपलब्ध है। यह राजनीति प्रधान नहीं है। इसलिए उसके राजनीतिक स्वरूप का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होना असम्भव हो जाता है। यही कारण वैदिक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का समान रूप में परिचय होता है। वैदिक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों, उनके स्वरूप उनके क्रमिक विकास आदि का स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। परन्तु जीवन की अन्य समस्याओं एवं उनके समाधान के साधनों का वर्णन करते हुए प्रसंगवश कुछ ऐसी सामग्री भी प्राप्त है जो राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ परिचय देने में सहायक है। इस सामग्री के विवेचनात्मक अध्ययन से ऐसा ज्ञान होता है कि वैदिक आर्य भी राज्य की उत्पत्ति के कतिपय हेतुओं में विश्वास रखते थे। इन्हीं विविध हेतुओं के आधार पर उन्होंने राज्य की उत्पत्ति के कई सिद्धान्तों की कल्पना की थी। उनकी इस कल्पना के आधार पर ऐसा विदित होता है कि वह राज्य की उत्पत्ति के मुख्य तीन सिद्धान्तों में आस्था रखते थे। राज्य की उत्पत्ति के इन्हीं तीन सिद्धान्तों का यथासम्भव परिचय इस अध्याय में दिया जायगा।

युद्ध सिद्धान्त

आर्य-अनार्य संघर्ष

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिककालीन भारत में आर्य बस्तियों के समीप कुछ अन्य बस्तियाँ भी थीं। इन बस्तियों में आर्यों से भिन्न लोग रहते थे। इन बस्तियों के निवासियों और इनके पड़ोसी आर्य-बस्तियों के निवासियों के जीवन में अन्तर था। इन आर्य इतर बस्तियों के निवासियों को वेदों में पणि, नग्न, ह्वर कीकट, वेकनाट आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। पणि लोग व्यापार-कुशल थे। वेदों में पणि जाति को व्यापारियों की श्रेणी में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद में पणि

जाति को धनी एवं भोग विलासी बतलाया गया है।[1] वेदों में यत्र-तत्र इस ओर भी संकेत है कि पणि जाति के लोग अपने पड़ोसी आर्यों की बस्तियों में प्रवेश कर आर्यों की सम्पत्ति पशु आदि की चोरी किया करते थे।[2] नग्न जाति के लोग सम्भवतः नग्न रहते थे। यजुर्वेद में इनके नेता को नग्नपति की उपाधि से विभूषित किया गया है।[3] ह्वर जाति अति क्रूर बतलायी गयी है।

आर्य इतर यह जातियाँ अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करती थीं। उनकी दृष्टि में आर्य सभ्यता निन्दनीय एवं दोषपूर्ण था। वह वैदिक देवों की पूजा करना उचित नहीं समझते थे। उनके व्रतों, यज्ञों आदि के कृत्यों में इन आर्य इतर जाति के लोगों की आस्था न थी। इसलिए वैदिक आर्यों और उनकी इन पड़ोसी जातियों के मध्य निरन्तर संघर्ष होते रहते थे। वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें इन जातियों को दूर रखने और उनके नाश हेतु प्रार्थनाएँ की गयी हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—हे वरुण देव! हमारे शत्रुओं का नाश कीजिए।[4] हे इन्द्र देव! राक्षसों का समूल नाश कर हमारी रक्षा कीजिए, ब्रह्मद्वेषियों का नाश हेति अस्त्र द्वारा कर दीजिए।[5] ब्रह्मद्वेषी अपव्रत धारण करने वाले लोगों का नाश कीजिए।[6] हे अग्नि देव! दान न करने वाले तथा देवों की उपासना न करने वाले हमारे शत्रुओं से युद्ध कीजिए और उन्हें दूर खदेड़ दीजिए।[7] इसी प्रकार पणि जाति के विषय में यजुर्वेद में उल्लेख है—आर्य देवों के द्वेषी पणि लोग दुःख देने वाले हैं। वह यहाँ से दूर भाग जायें।[8] ह्वर जाति के लोगों के भी दूर रहने के लिए प्रार्थना की गयी है—आर्य-व्रतों से भिन्न आचरण करने वाले एवं आर्यों से द्वेष करने वाले ह्वर जाति के लोगों को दूर रखें। अथर्ववेद में पणि जाति के नाश हेतु प्रार्थना की गयी है।[9]

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य और उनकी पड़ोसी अनार्य जातियों में परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इन संघर्षों में विजेता पराजित जाति के लोगों को दास भी बना लिया करते थे। इसीलिए इस प्रकार की दासता से मुक्त

१ ८।३३।१ ऋग्वेद। ७।२५।४ ऋग्वेद। २ ६।२४।२ ऋग्वेद।
३ ३१।२१ यजुर्वेद। ४ ९।८६।१ ऋग्वेद।
५ ३।१९।१ ऋग्वेद। १७।३०।३ ऋग्वेद। ६ ३।१७५।१ ऋग्वेद।
७ ९।४२।५ ऋग्वेद एवं यजुर्वेद। ८ १।३५ यजुर्वेद।
९ २०।३८ यजुर्वेद। १० ४।२५।२० अथर्ववेद।

रहने के लिए वदिक साहित्य मे यत्र-तत्र प्राथनाएँ की गयी हैं। यह प्राथनाएँ इस प्रकार की गया है—जो हम दास बनाना चाहता है या बनाता है उस नीच को नरक प्राप्त कराइये।[1]

इस प्रकार वदिक आर्यों को अपने समीपवर्ती आय इतर जातिया मे निरन्तर सघष करना पडता था जिसका परिणाम युद्ध होते थे। इन युद्धों में विजयी होने पर ही वदिक आर्यों एव उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का जीवित रहना निभर था।

आय राजा का निर्माण

वदिक आय लोग शान्ति प्रिय थे। उनके मुख्य व्यवसाय कृषि पशुपालन, साधारण व्यापार आदि थे। वह पारस्परिक सहयोग एव सद्भावना से जीवन व्यतीत करना चाहते थे। परन्तु उनके समीपवर्ती अनाय जातिया और उनके मध्य जो सघष हो रहे थे उनके कारण उनका शान्तिमय जीवन अधिक समय तक स्थायी न रह सका। उन्हें अपनी सभ्यता संस्कृति तथा आश्रिता की प्राण रक्षा के निमित्त कुछ-न-कुछ उपाय करना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने यह उचित समझा कि उनका एक शक्तिशाली नेता होना चाहिए जिसके नेतत्व म रहकर वह अपनी रक्षा एव अपने इन पडोसी आय इतर जातिया का दमन हेतु सफलतापूवक युद्ध-सचालन कर सकें और अपने इस नेता के आदर्शों का पालन करते हुए वह अपना जीवन पूववत सुख और शान्तिपूवक व्यतीत कर सकें। अपने लिए इस प्रकार के नेता को रखने की योजना को चिरस्थायी करने के लिए उन्होंने उसके निमित्त एक नवीन एव महत्त्वपूण विशेष पद का निर्माण किया। उनके इस नेता म समय एव परिस्थिति के अनुसार कुछ विशेष योग्यताएँ एव गुण थे जिनके धारण करने के कारण वह नेता अपने जनसमुदाय के अन्य पुरुषो की अपेक्षा अधिक एव विशेष प्रकाशित तथा तेजयुक्त था। इसलिए उन्होंने अपने इस नूतन नेता को राजा और उसके पद को राजपद का सज्ञा दी।[2] उन्होंने वचन दिया कि वह अपने इस नेता को कतव्यपालन म समथ रखने के लिए धन जन बुद्धि आदि से उसकी सदव सहायता करते रहेंगे। उनका इस सहायता के बदले म वह उनकी आन्तरिक विघ्न बाधाओ का शमन करता रहेगा और बाह्य शत्रुओ से उनकी निरन्तर रक्षा करता रहेगा।

इस प्रकार वदिक आय सामाजिक जीवन की अवस्था से राजनीतिक समाज की

१० ४४।८ यजुर्वेद। २ राजयति प्रकाशयति स राजा।

अवस्था (State of Political Society) में प्रविष्ट हुए और इस प्रकार उनमें राजा एवं राज्य का सर्वप्रथम निर्माण हुआ।

ऋग्वेद में इन्द्र को आर्यों का नेता बतलाया गया है।[1] अपने शत्रुओं से युद्ध करने एवं उन पर विजय प्राप्त करने के लिए आर्यों ने इन्द्र को अपना राजा बनाया था, ऐसा ऋग्वेद में वर्णित है।[1] ऋग्वेद में इस ओर भी संकेत हैं कि इन्द्र को राजा बनाने के पूर्व वैदिक आर्यों में राजा नहीं होता था, इन्द्र उनका सर्वप्रथम राजा था। इस प्रकार आर्य और अनार्य संघर्षों एवं युद्धों में विजय प्राप्ति हेतु वैदिक आर्यों ने अपने समाज में राजपद का निर्माण किया था। वेदों में इन्द्र को जातियों (अनार्य जातियों) का विजेता (जेता जनानाम्), शत्रु के नगरों को ध्वंस करने वाला (पुरन्दर पुरम्भेत्ता) आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। इन्द्र के पीछे-पीछे देवसेना गमन करती थी।[2] यजुर्वेद के नवें अध्याय के एक मंत्र में बतलाया गया है कि वैदिक आर्यों ने अपने शत्रु अनार्य लोगों के दमन हेतु अपने समाज में सर्वप्रथम राजा का निर्माण किया था। उक्त मंत्र में यह तथ्य इस प्रकार वर्णित है—हे इन्द्र! तुम्हें राक्षसों के वध हेतु राजा नियुक्त करता हूँ।[3] शीघ्रकारी, तीक्ष्ण, तेजस्वी भयंकर वृषभ के समान घमासान मचा देने वाला, वीरों को समरभूमि में विचलित कर देने वाला, शत्रु सेना में हाहाकार मचा देने वाला नित्य पराक्रमशील, ऐश्वर्यशाली अकेला वीर राजा सैकड़ों सैनिकों पर विजय प्राप्त करता है।[4] एक अन्य स्थल पर अपनी रक्षा के निमित्त राजा की प्राप्ति हेतु इस प्रकार प्रार्थना की गयी है—मैं तुम्हें सुत्राता राजा होने के लिए स्वीकार करता हूँ।[5] बल के लिए, वीर्य वृद्धि के लिए तेरा अभिषेक करता हूँ।[6] महान क्षात्रधर्म के लिए, शत्रुरहित होने के लिए देवगण तेरा अभिषेक करते हैं।[7]

इस प्रकार वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें इस ओर संकेत प्राप्त हैं कि आदि काल में सर्वप्रथम आर्य राजा का निर्माण युद्ध-संचालन हेतु हुआ था। संहिताओं में वर्णित इस सिद्धान्त का समर्थन उत्तर वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक आख्यान आता है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि का ज्वलन्त प्रमाण है कि

१ १।२९।१० ऋग्वेद २।२९।१० ऋग्वेद। २ ३।६४।८ ऋग्वेद।
३ ४०।१७ यजुर्वेद। ४ ३८।९ यजुर्वेद। १३।१ यजुर्वेद।
५ ३३।१७ यजुर्वेद। ६ ३२।१० यजुर्वेद। ७ ३।२० यजुर्वेद।
८ ४०।९ यजुर्वेद।

युद्ध के सुसचालन हेतु ही सर्वप्रथम आर्य राजा का निर्माण हुआ था। यह आख्यान सक्षेप मे इस प्रकार है—देवासुर-सग्राम हो रहा था। इस सग्राम मे असुर विजयी और सुर पराजय को प्राप्त हो रहे थे। ऐसा देखकर सुर इस निर्णय पर पहुँचे कि उनकी पराजय का एकमात्र कारण सुरो मे राजा का न होना था। उनके शत्रु असुरो मे राजा था। इसलिए वह विजयी हो रहे थे। इसलिए उन्होने निश्चय किया कि उन्हें भी अपना राजा बनाना चाहिए और अपने इस निश्चय के अनुसार उन्होने सोम को अपना सर्वप्रथम राजा बनाया।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के इस आख्यान से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक युग के आदि काल मे एक ऐसा युग भी था जब कि वैदिक आर्यों मे राज्य व्यवस्था न थी, उनके समाज मे राजपद का निर्माण नही हुआ था। उस युग मे वैदिक आर्य सामाजिक जीवन की अवस्था मे ही थे। उन्होने उस समय तक राजनीतिक अवस्था मे प्रवेश नही किया था। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर, अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के निमित्त, उन्हें अपने समाज मे राजपद के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई थी और उन्होने इस प्रकार राजा का अभाव अपनी पराजय का मूल कारण समझा था। इसी अभाव की पूर्ति हेतु उन्होने अपने समाज मे राजपद का निर्माण किया। इस प्रकार वैदिक आर्यो मे राजनीतिक समाज (Political Society) अर्थात् राज्य का सर्वप्रथम उदय हुआ जिसका एकमात्र उद्देश्य युद्ध मे विजयी होना था।

वैदिक युग के आदि काल मे वैदिक आर्यों मे न तो राजपद ही था और न राज्य व्यवस्था का ही उदय हुआ था इस तथ्य की पुष्टि उपनिषद साहित्य मे भी की गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद मे राज्य निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे बतलाया गया है कि आदि काल मे (अग्रे) एकमात्र ब्रह्म ही था। अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूति युक्त कार्य करने मे असमर्थ रहा। इसलिए उसने क्षत्र का निर्माण किया और इस प्रकार उसने देवो के राजा इन्द्र, जलचरो के राजा वरुण, रोगो के राजा मृत्यु, पशुओ के राजा रुद्र, वर्षा के राजा पर्जन्य, पितरो के राजा यम, प्रकाश के राजा ईशान आदि का सर्जन किया।[2] बृहदारण्यकोपनिषद के इस आख्यान से भी स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों ने कुछ समय सामाजिक जीवन व्यतीत कर लेने के उपरान्त, राजपद के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु उन्होने राजपद का निर्माण किया था।

१ १४।३।१ ऐतरेय ब्राह्मण। २ १।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्।

महाभारत मे भी इस तथ्य की पुष्टि के प्रमाण है। भीष्म ने एक ऐसे युग का युधिष्ठिर के समक्ष वर्णन किया है जिसमे मनुष्य सामाजिक जीवन मे था परन्तु राजनैतिक जीवन मे उसने प्रवेश नही किया था। उस युग का वर्णन करते हुए भीष्म ने स्पष्ट शब्दो मे युधिष्ठिर को बतलाया था कि आदिकाल मे न राजा ही था और न राज्य न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। सभी लोग धर्माचरण द्वारा परस्पर रक्षा करते रहते थे।[1]

इस प्रकार वेद मे वर्णित इस तथ्य की पुष्टि महाभारत मे भी की गयी है।

युद्ध सिद्धान्त का लोप हो जाना

वैदिक युग के आरम्भ काल मे आर्य राजा का एकमात्र कर्तव्य अपने अधीन जनसमुदाय के प्राण, उसकी सम्पत्ति स्वतन्त्रता और मान मर्यादा की रक्षा करना था। अपने इस कर्तव्य पालन हेतु आर्य राजा युद्ध करता था। इस प्रकार उस युग मे आर्य राजा के निर्माण का एकमात्र हेतु युद्ध बतलाया गया है। परन्तु समय के साथ-साथ उनके समाज ने भी विकास किया। उनके समाज के विकास के साथ-साथ आर्य, के राजा के कर्तव्य-क्षेत्र मे भी उसी क्रम से वृद्धि होती गयी। आर्य राजा युद्ध विजय का हनुमान न रहा। उसके कर्तव्यो की परिधि मे शनै शनै वृद्धि होती गयी। उस प्रजापरिपालन एव प्रजारजन सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन का भार अपने कन्धो पर धारण करना आवश्यक हो गया। इसलिए उत्तर वैदिक काल के उपरान्त राजा का स्वरूप वीर योद्धामात्र न रहा। वह वीर योद्धा बना रहा परन्तु उसके साथ साथ वह प्रजापरिपालक और प्रजारजक भी होने लगा। इसलिए लोक राजा के वीर योद्धा के स्वरूप मात्र पर ही मुग्ध न रहा। ऐसी परिस्थिति मे लोक के लिए, राजा की उत्पत्ति का हेतु युद्ध है इस सिद्धान्त मे विशेष आकर्षण न रहा। यही कारण है कि वैदिक युग के पश्चात ही आर्य जनता ने राज्य की उत्पत्ति के युद्ध सिद्धान्त को अनुपयोगी एव अनावश्यक समझ कर सदैव के लिए उसका परित्याग कर दिया। परन्तु यह निर्विवाद एव निश्चित है कि वैदिक युग मे राजा की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त विशेष उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण समझा गया और आर्य जनता के जीवन मे इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

1 १४।५९ शान्तिपर्व, महाभारत।

वैदिक संहिताओं में अनुबन्धवाद का स्वरूप

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में अनेक मंत्र हैं जिनमें समाज अनुबन्धवाद की स्थापना की गयी है। परन्तु इन वैदिक मंत्रों में इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया हुआ है उससे यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि वैदिक संहिताओं में इस सिद्धान्त का पूर्व रूप नहीं है। वह एकांगी एवं अपूर्ण है। इसमें कई तत्त्वों का अभाव है। संहिताओं के इन प्रसंगों में मनुष्य के प्राकृत जीवन की अवस्था (State of Nature) का उल्लेख नहीं है। मनुष्य ने किस प्रकार प्राकृत जीवन की अवस्था से सामाजिक जीवन की अवस्था (State of Society) में और तत्पश्चात् सामाजिक जीवन की अवस्था से राजनीतिक जीवन की अवस्था (State of Political Society) में प्रवेश किया इन महत्त्वपूर्ण विषयों का लेशमात्र भी निरूपण नहीं किया गया। इस सिद्धान्त के दूसरे उल्लेखनीय तत्त्व का अभाव यह है कि इसमें अन्तर्गत अनुबन्ध अथवा प्रतिज्ञा प्रस्तावित राजा और जनता के मध्य होने की व्यवस्था नहीं है। इसमें प्रस्तावित राजा और पुरोहित के मध्य अनुबन्ध अथवा प्रतिज्ञा की व्यवस्था का आयोजन किया गया है। इतना अवश्य है कि इस प्रसंग में पुरोहित जनता का प्रतिनिधि स्वरूप है और इसी रूप में वह राज्याभिषेक सम्बन्धी समस्त कृत्यों का सम्पन्न करता है। वह पुरोहित जनता की ओर से ही प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक करता है। वेद कालीन समाज अनुबन्धवाद के इस स्वरूप में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव है। वह यह है कि प्रस्तावित राजा और जनता प्रत्यक्ष मुँह खोलकर अनुबन्ध के प्रतिवचन द्वारा पालन करने की प्रतिज्ञा करते हुए दिखाई नहीं पड़ते। इस प्रकार समाज अनुबन्धवाद के इस स्वरूप में एक महत्त्वपूर्ण अभाव यह भी है कि इसमें अनुबन्ध एकांगी मात्र है। प्रस्तावित राजा और जनता अथवा इसके प्रतिनिधि दोनों पक्ष इस अनुबन्ध (Contract) को प्रतिज्ञाबद्ध होकर स्वीकार करते हो स्पष्ट नहीं है। बल्कि संहिताओं में इस विषय का उल्लेख कहीं नहीं है जिसमें प्रस्तावित राजा भी इस विषय की घोषणा करता हुआ दिखलाया गया हो कि वह उक्त अनुबन्ध की धाराओं के पालन करने की प्रतिज्ञा कर रहा है। इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस अवसर पर प्रस्तावित राजा का मौन रहना ही उसकी स्वीकृति मानी जा सकती है। इसलिए वैदिक संहिताओं में वर्णित समाज अनुबन्धवाद में भावी राजा की स्पष्ट स्वीकृति की व्यवस्था न होने के कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण एवं एकांगी मात्र समझा जायगा।

वैदिक संहिता कालीन समाज अनुबन्धवाद में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव

है और वह है इसका दार्शनिक पक्ष। इस अनुबन्धवाद में दार्शनिक तत्व का अभाव होने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से इस सिद्धान्त का मूल्य एवं महत्व अति न्यून हो जाता है। इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु मनुष्य की वृत्तियों का उल्लेख लेशमात्र भी नहीं किया गया और न इस विषय के उल्लेख करने की ही आवश्यकता समझी गयी कि मनुष्य में वह कौन सी वृत्ति अथवा वृत्तियाँ जाग्रत हो गयीं जिनके कारण उसे समाज-अनुबन्धवाद का आश्रय लेने और तदनुसार राजा एवं राज्य के निर्माण हेतु बाध्य होना पड़ा। इस महत्त्वपूर्ण तत्व के अभाव के कारण ही संहिता-कालीन यह अनुबन्धवाद अपूर्ण एवं एकांगी ही रह गया और विद्वत्समाज के लिए अग्राह्य ही रहा है। समय प्रवाह के साथ साथ मनुष्य की विचार धारा में भी विकास होना स्वाभाविक है। शनैः शनैः मनुष्य ने इस सिद्धान्त के एकांगी एवं अपूर्ण स्वरूप को समझा और अनुभव किया। उसने इन अभावों की पूर्ति हेतु प्रयास किया जिसका परिणाम यह हुआ कि महाभारत के अनुशासन पर्व के संकलन काल तक इन अभावों की पूर्ति यथासम्भव हो गयी। यही कारण है कि अनुशासन पर्व में भीष्म ने इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया है उसमें इन सभी तत्त्वों का समावेश है। अतः अनुशासन पर्व में वर्णित समाज अनुबन्धवाद वेदकालीन तत्सम्बन्धी सिद्धान्त की अपेक्षा लोक के लिए कहीं अधिक मान्य एवं ग्राह्य समझा गया है।

इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी कतिपय दार्शनिकों ने समाज अनुबन्धवाद की स्थापना राज्य निर्माण हेतु की है। इनके द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त भी वैदिक संहिताओं में वर्णित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से इस विषय में भिन्न है। इन दार्शनिकों ने अपने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु जहाँ इस सिद्धान्त के अन्य तत्त्वों को स्थान दिया है वहाँ इसके दार्शनिक तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है। इतना ही नहीं वरन् उन्होंने इस सिद्धान्त के दार्शनिक तत्त्व की ओर अन्य तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान दिया है और इस प्रकार उन्होंने इस तत्त्व को सर्वोपरि ठहरा दिया है।[1] इन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित समाज अनुबन्धवाद रूपी प्रासाद का आधार यह तत्त्व है जिसका, वैदिक तत्सम्बन्धी सिद्धान्त में अभाव है। इस दृष्टि से वैदिक संहिताओं का अनुबन्धवाद एकांगी, अपूर्ण एवं आंशिक विकसित मात्र है।

१ Libiathan by Hobbes, Two Treatises of Government by Lock The Social Contract by Pousseau

परन्तु इतना होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़गा कि वदिक सहिताओं में समाज-अनुबन्धवाद की स्थापना की गयी है इसम दो मत नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त अपने पूर्व रूप में ही क्यों न हो अथवा मले ही उसका स्वरूप एकांगी अपूर्ण एव आंशिक विकास प्राप्त ही रहा हो। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व वदिक ऋषियों ने राज्य की उत्पत्ति के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना की थी।

उत्तर वदिक समाज-अनुबन्धवाद

ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया लोक ज्ञान में भी अभिवृद्धि एव विकास हुआ है। लोक ज्ञान के इस विकास के साथ ही वदिक सहिता कालीन समाज-अनुबन्धवाद के स्वरूप तथा क्षेत्र में भी तदनुसार विकास हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में इस विकास के चिह्न प्रत्यक्ष दिखलाई देते है। सहिता कालीन समाज अनुबन्धवाद में राजा की मूक स्वीकृति है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के रचना काल में वह मूक स्वीकृति स्पष्ट घोषणा का रूप धारण कर लेता है। अपनी इस स्वीकृति को प्रस्तावित राजा शपथ लेकर व्यक्त करता था। इस शपथ की शब्दावली भी निर्धारित कर दी गयी। प्रस्तावित राजा के लिए राजपद प्राप्ति के निमित्त राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन समारोह के समक्ष इस शपथ का ग्रहण करना अनिवार्य कृत्य निर्धारित कर दिया गया। इस शपथ की शब्दावली (Text) का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—जिस रात्रि (समय) उत्पन्न हुआ हू और जिस रात्रि (समय) मेरा निधन होगा इस अवधि में जो पुण्य मेरे द्वारा हुआ हो, मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जाये, यदि तेरा द्रोह करूँ।[1] इस शपथ के ग्रहण करने का तात्पर्य यह था कि इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेने के उपरान्त प्रस्तावित राजा निरंकुश एव उच्छृंखल न हो सकेगा वह अपने कर्त्तव्यों एव तत्सम्बन्धी अनुबन्ध के प्रतिवचन का पालन विधिवत करता रहेगा और यदि वह अपने पद का दुरुपयोग कर अपने और अपनी प्रजा के मध्य किये गये अनुबन्ध के प्रतिवचन को भग करेगा तो ऐसी परिस्थिति में उसको पदच्युत करने में किसी प्रकार की कोई अड़चन उपस्थित न होने पायेगी। परन्तु इस तथ्य से यह भी सिद्ध होता है कि प्रस्तावित राजा को राजपद कतिपय निश्चित प्रतिबन्धों के आधार पर पुरोहित द्वारा दिया जाता था।

१ ११३६।१५ ऐतरेय ब्राह्मण।

इसलिए प्रस्तावित राजा और जनता के मध्य किये गये अनुबन्ध के अभ्यन्त पालन हेतु उसे यह शपथ ग्रहण करना अनिवार्य कृत्य निर्धारित किया गया था।

इस प्रकार उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद सिद्धान्त के स्वरूप में वैदिक संहिताकालीन तत्सम्बन्धी सिद्धान्त के स्वरूप की अपेक्षा विकास हुआ। परन्तु उत्तर वैदिक युग में भी इस सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष की ओर उपेक्षा ही रहा। न तो उसकी गहन विवेचना ही की गयी और न उसकी सम्यक् स्थापना करने का ही प्रयास किया गया। इसीलिए उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद में भी उन तत्वों का अभाव बना ही रहा जो कि उसके स्वरूप में संहिता काल में था। उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद भी इस प्रकार एकांगी आंशिक विकसित तथा अपूर्ण रूप में ही रहा। इस सिद्धान्त के मूल तत्वों का समावेश न हो सका। अतः इसके लिए समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग में राज्य की उत्पत्ति के समाज अनुबन्धवाद सिद्धान्त की कल्पना एवं स्थापना की गयी थी। परन्तु उस युग में इस सिद्धान्त का स्वरूप आंशिक विकसित एकांगी और अपूर्ण ही बना रहा।

दैवी सिद्धान्त

वैदिक संहिताओं में दैवी सिद्धान्त की विषय-वस्तु

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद का अधिक अंश प्रकृति की विविध शक्तियों की स्तुति उनके विशेष गुणों एवं लक्षणों से विशेष सम्बन्धित है। इन्हीं प्रसंगों में यत्र-तत्र कतिपय ऐसे सूक्त भी पाये जाते हैं जिनमें राजा देव समझ कर सम्बोधित किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में राजा देव माना गया है। परन्तु इतने मात्र से राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना नहीं मानी जा सकती और न उसके दैवी स्वरूप के लक्षणों की रूप रेखा ही खींची जा सकती है। इस विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कुछ चिह्न मात्र पाये जाते हैं।

राजा की दैवी उत्पत्ति की जो विषय-वस्तु ऋग्वेद में प्राप्त है उससे कहीं अधिक एवं स्पष्ट सामग्री यजुर्वेद में उपलब्ध है। यजुर्वेद में राजा को दिव सूनु अर्थात् 'द्युलोक के पुत्र' की उपाधि से विभूषित किया गया है। राजा के नियुक्ति सम्बन्धी कृत्यों का

१ १२, १३।२४।१ ऋग्वेद। ४।१।२ ऋग्वेद।

वर्णन करते हुए यजुर्वेद के एक मंत्र में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे राजन् ! तेरी नियुक्ति की जा रही है, दिव्यगुण-युक्त जनता (विश) तुझे स्वीकार करे। मनुष्यों की उपयुक्त समृद्धियाँ तुझे प्राप्त हों, तू द्युलोक का पुत्र है इस पृथिवी के सभी लोग और अरण्य के सभी पशु तेरे हैं।[1] इस प्रसंग में राजा 'दिव सूनु' अर्थात् द्युलोक का पुत्र बतलाया गया है। इस पद की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है— दिव सनुरसि द्युलोकस्य पुत्रासि। इस प्रकार इस प्रसंग के अनुसार यजुर्वेदीय राजा इस लोक का प्राणी नहीं है। वह द्युलोकवासी देवपुत्र है। जनता इस द्युलोकवासी को इस लोक में, अपने समाज में सुशासन एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु राजपद पर आसीन करती है। जनता का यह विश्वास है कि राजपद के लिए द्युलोकवासी ही उपयुक्त है क्योंकि वह ऋतगामी होता है वह अनृत से दूर रहता है। वह ऋतगामी प्राणियों के लिए ऋतमार्ग का प्रदर्शक होता है। इसी आधार पर यजुर्वेद में राजा के लिए 'दिव सूनु' की उपाधि दी गयी है। इस प्रकार यजुर्वेद के इस प्रसंग में राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की गयी है।

परन्तु इस तथ्य को स्वीकार कर लेने में कुछ आपत्ति अवश्य है। यह आपत्ति यजुर्वेद के इस मंत्र के विनियोग से सम्बन्धित है। आचार्य सायण उव्वट महीधर आदि ने इस मंत्र का विनियोग राजपरक न मानकर यज्ञपरक बतलाया है और इस प्रकार उन्होंने इस पद का सम्बन्ध यज्ञ यूप से जोड़ा है।[2] इसलिए उनके मतानुसार 'दिव सूनु' पद यज्ञ यूप का विशेषण है। यदि इन आचार्यों का यह मत सत्य है तो यह प्रमाण राजा की दैवी उत्पत्ति के पक्ष में देना उचित न होगा। परन्तु कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने इस मंत्र का विनियोग राजपरक किया है और इस प्रकार उन्होंने 'दिव सूनु' पद राजा का विशेषण माना है।[3] इन विद्वानों के इस मत के अनुसार राजा द्युलोक का पुत्र अथवा देव माना जायगा।

वैदिक परम्परा के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु भावी राजा का राज्याभिषेक होना अनिवार्य है। अनभिषिक्त व्यक्ति राजपद का वैध अधिकारी नहीं होता। राज्याभिषेक के पूर्व उसे तत्सम्बन्धी यज्ञ या अनुष्ठान करना पड़ता था। इस यज्ञ को प्रारम्भ करने

१ ६।६ यजुर्वेद। २ देखिए सायणभाष्य कृष्ण यजुर्वेद और उव्वट महीधर भाष्य, शुक्ल यजुर्वेद।

३ देखिए वैदिक सस्थान, मथुरा द्वारा प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद।

के पूर्व उसे यज्ञ की दीक्षा लेनी होती थी। दीक्षित होने के लिए उसे सर्वप्रथम, यज्ञाग्नि को साक्षी मानकर विशेष व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इस प्रतिज्ञा के लिए यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के पंचम मन्त्र द्वारा भावी राजा अग्नि देव की प्रार्थना देव बनने के लिए इस प्रकार करता था—हे व्रतपते अग्नि देव! मैं व्रतचारी बनूँगा। मैं इसमें समर्थ होऊँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। अब मैं अनृत स्वभाव (मनुष्य-स्वभाव) त्याग कर सत्य स्वभाव (देवत्व) को प्राप्त होता हूँ। यजुर्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य उव्वट ने यह शब्दावली प्रकट की है—अहं यजमानो ऽस्मादनृतात् मनुष्यजन्मन उत्थाय सत्यं देवशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि। अर्थात् मैं, यजमान इस अनृत मनुष्यस्वरूप से उठकर सत्यस्वभाव देवत्व को प्राप्त होता हूँ।[1] इस प्रकार राज्याभिषेक हेतु दीक्षित हुआ यजमान भावी राजा मनुष्य से देव बन जाता है। इस मन्त्र के अनुसार राजा देव होता है वह मनुष्य से ऊपर उठकर देव बन जाता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि यजुर्वेद में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में यजुर्वेद में एक और प्रसंग है जिसमें प्रस्तावित राजा को देव बनाने की योजना का स्पष्ट उल्लेख है और जिसे लगभग सभी प्रमुख भाष्यकारों ने इसी रूप में माना है। राजा देव होना चाहिए। उसे अनृत-स्वभाव मानव से भिन्न स्वभाव वाला पुरुष होना चाहिए। उसमें दिव्य गुण होने चाहिए जिससे वह स्वयं ऋतगामी होकर अनृत-स्वभाव मानवों को अनृत से ऋत मार्ग पर ले चलने में समर्थ हो सके और इस प्रकार वह उन्हें इस लोक में सुख और शान्तिमय जीवन बिताने की सुव्यवस्था कर सके और उन्हें इस योग्य बनाने में सफल हो सके कि वे अपने जीवन के परम एवं चरम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति सुविधापूर्वक कर सकें। इसी लिए यजुर्वेद में राजा की उत्पत्ति यज्ञ से कही गयी है। यज्ञ देवरूप है और प्राणियों को पवित्र करने वाला बतलाया गया है।

यज्ञ की वेदी पर बैठने के पूर्व अमेध्य-स्वभाव मनुष्य (भावी राजा) को मन, वचन और कर्म से अनृत-त्याग का व्रत धारण करना अनिवार्य बतलाया गया है। उपस्थित जन समारोह के समक्ष अग्नि को साक्षी मानकर यजमान इस व्रत को धारण करने के लिए वचनबद्ध होता है और स्पष्ट घोषणा करता है कि वह इस व्रत का पालन

१ ५।१ यजुर्वेद।

कठोरता स करगा। उसके अग प्रयगा को यज्ञ द्वारा पवित्र किया जाता है और इस प्रकार उसका पुनजम देवरूप म हुआ है ऐसा मान लिया जाता है।[1] इस प्रकार यजुर्वेदीय राजा मानवीय शरीर एव मानवीय स्वभाव धारी पुरुष न रहकर दव-स्वरूप एव देव-स्वभाव धारी हो जाता है।

यजुर्वेद के दसवें अध्याय म भी एक मत्र है जिसम यज्ञ द्वारा प्रस्तावित राजा को उत्पन्न करन क निमित्त प्रार्थना की गयी है जिसम उस पच दवयुक्त बना दन की प्रक्रिया का उल्लेख है। इस कृत्य के अनुसार पुरोहित यज्ञ की वेदी पर बठे हुए यजमान (प्रस्तावित राजा) का ब्रह्मा, सविता, वरुण, इन्द्र और रुद्र बना दता ह[2] अर्थात पुरोहित प्रस्तावित राजा म इन देवो के गुणो का आधान कर दता ह, जिन्हें धारण कर वह भी ब्रह्मा, सविता, वरुण, इन्द्र और रुद्र की सार मात्राआ क सयोग से एक विशिष्ट मूर्ति बन जाता है। इस मत्र म पुरोहित यजमान को सम्बोधित कर स्पष्ट कहता है—'हे प्रस्तावित राजन्! तू ब्रह्मा है, तू सविता है, तू वरुण है, तू इन्द्र है और तू रुद्र है।'[3] इस प्रकार यजुर्वेदीय राजा पच देवमय है, इन पाँच दवो की विभूतियो को धारण कर राजपद ग्रहण द्वारा वह लोक पर शासन करता है।

यजुर्वेद क इसी अध्याय के एक मत्र म प्रस्तावित राजा को दस दवयुक्त बनाने की प्रक्रिया का विधान किया गया है। ये दस देव सविता, सरस्वती, त्वष्टा पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि सोम और विष्णु हैं।[4] पुरोहित यज्ञ की वदी पर बठे हुए प्रस्तावित राजा म इन दस देवो के दवाशो को ग्रहण कर आधान करता है और इस प्रकार उस एक पुरुष को इन दस देवो की विभूतियो का समुच्चय स्वरूप देता है। इस प्रकार यजुर्वेद के इस प्रसग म भी राजा की दवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसी प्रसग म स्पष्ट बतलाया गया है कि पुरोहित प्रस्तावित राजा को सोम अग्नि, सूर्य और इन्द्र के तेज से सम्पन्न कर राजपद के लिए उसका राज्याभिषेक करता है।[5] यजुर्वेद म भी ऋग्वेद के समान ही राजा इन्द्र, वरुण आदि देवरूप माना गया है।[5]

इस प्रकार यजुर्वेद में अनेक ऐसे प्रसग है जिनमें राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी ह। इसलिए यह मानना उचित ही होगा कि यजुर्वेद में राजा की दवी उत्पत्ति की स्थापना की गयी ह।

१ २१।९ यजुर्वेद। २ २८।१० यजुर्वेद। ३ ३०।१० यजुर्वेद।
४ २४।१० यजुर्वेद। ५ ३७।८ यजुर्वेद।

अथर्ववेद में भी इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। अथर्ववेद में बतलाया गया है कि राजा इन्द्र, सोम वरुण, मित्र, यम सूर्य आदि देवों का अंश धारण करता है। इस प्रसंग में अथर्ववेद में बतलाया गया है कि राजा इन्द्र का अंश है वह सोम का अंश है वह वरुण का अंश है मित्र का अंश है यम का अंश है पितरों का अंश है और वह सविता देव का अंश है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग के अनुसार राजा का निर्माण इन्द्र सोम, वरुण मित्र यम पितर सविता आदि देवों के अंशों को संगृहीत कर किया गया है। उसमें राजा का आसन विष्णुपद के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकरण में यह स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि हे राजन ! तू विष्णु पद पर आसीन है।[2] अथर्ववेद के इसी सूक्त में राजा विष्णुपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यु दिशा आशा ऋत यन ओषधि जल कृषि और प्राण इन ग्यारह पदार्थों से उसकी उत्पत्ति कर क्रमश उसको अग्नि वायु सूर्य मन सोम ब्रह्म वरुण ऋत और पुरुष के तेज से तेजस्वी किया जाता है।[3] भावी राजा इन पदार्थों एवं देवों के अंशों को धारण कर विष्णुपद अर्थात राजपद पर आसीन किया जाता है। इस प्रकार वह देवत्व को प्राप्त हो जाता है।

उत्तर वैदिक दैवी सिद्धान्त

उत्तर वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र कतिपय ऐसे उपाख्यान पाये जाते हैं जिनमें राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण पाये जाते हैं। इस ब्राह्मण में सविस्तर वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने प्रजापति के तेज को धारण कर राजपद प्राप्त किया। यह तथ्य एक आख्यान के रूप में दिया गया है जो इस प्रकार है—प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। राजपद पाने का अधिकारी होने के लिए इन्द्र ने प्रजापति से उसके तेज की प्राप्ति हेतु याचना की। इस तेज के प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्र देवराज बन गया यद्यपि वह देवों में छोटा था। प्रजापति के तेज की प्राप्ति के पूर्व वह साधारण देव था। इन्द्र और अन्य देवों में कोई विशेष अन्तर न था परन्तु प्रजापति के तेज को धारण कर लेने से इन्द्र देवों का राजा बन गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित यह उपाख्यान इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि राजपद का वध

१ ८ से १४।५।१० अथर्ववेद। २ २५।५।१० अथर्ववेद।
३ २५ से ३५।५।१० अथर्ववेद। ४ १ २।१०।२।२ तैत्तिरीय ब्राह्मण।

अधिकारी वही है जिसमें प्रजापति का तेज विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहना न्याय युक्त होगा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु प्रजापति के विशिष्ट अंश अथवा तेज को धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का पोषण किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में भी इस सिद्धांत की पुष्टि करने वाले आख्यान उपलब्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि राज्याभिषेक होने के पूर्व प्रस्तावित राजा साधारण पुरुष ही होता है। प्रस्तावित राजा और अन्य लोगों में राजपद पाने के पूर्व विशेष अंतर नहीं होता। परन्तु राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही साधारण पुरुष देवत्व को प्राप्त हो जाता है। इस विषय की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में इस प्रकार उल्लेख है—जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह होता (Sacrificer) और विष्णु दोनों का रूप एक साथ ही धारण कर लेता है।[1] शतपथ ब्राह्मण में किये गये इस संकेत से भी इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

इतना ही नहीं अपितु उत्तर वैदिक काल में इस सिद्धांत में इसके दार्शनिक तत्त्व का भी समावेश किसी अंश तक हो गया था। इस दृष्टि से संहिताकालीन दैवी सिद्धान्त का उत्तर वैदिक काल में किसी अंश तक विकास हुआ और वह उसमें उसके सैद्धान्तिक तत्व के समावेश हो जाने के कारण हुआ। उत्तर वैदिक काल में मनुष्य स्वभाव का अध्ययन किया गया और इस अध्ययन के आधार पर मनुष्य-स्वभाव अनृतगामी ठहराया गया।[2] इसलिए उसे अनृत पथ की ओर गमन करने से रोककर सत्य पथ की ओर ले जाना उसका परम कल्याण करना समझा गया है। मानव-सृष्टि के साथ साथ देव सृष्टि भी मानी गयी है। देव-स्वभाव का भी विवेचनात्मक अध्ययन किया गया फलस्वरूप देव-स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से भिन्न निश्चित हुआ। देव-स्वभाव ऋतगामी सिद्ध किया गया।[3] इसलिए यह उचित समझा गया कि अनृत-स्वभाव मनुष्य को देव बनाने का सचेष्ट प्रयास करना चाहिए। देव स्वभाव धारण करने के लिए मनुष्य अनृत पथ का त्याग कर सत्य पथ को ग्रहण करे। परन्तु यह परिवर्तन उसके स्वभाव के विरुद्ध होगा और यह सामान्य रीति से असम्भव है। इसलिए मनुष्य को सत्य पथ गामी बनाने के लिए उसके समाज

१ १।७।१।२।३ शतपथ ब्राह्मण। २ ४।१।१।१ शतपथ ब्राह्मण।
३ ४।१।१।१ शतपथ ब्राह्मण।

म एक एस सशक्त व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की गयी जो स्वय सत्य पथावलम्बी हो और अपन समाज क सदस्यों को भी सत्य पथावलम्बी होने के लिए बाध्य करने म समर्थ हो। इसी लिए मनुष्य को सत्य पथावलम्बी होने के लिए उस बाध्य करने वाला एसा सशक्त पुरुष भी दवी विभूतियो को धारण करने वाला होना चाहिए। राजा सम्पूर्ण मानव समाज को सत्य पथ पर ले जाने का उद्योग करता है। वह प्राणिमात्र को असत्य पथ त्यागन और सत्य पथ पर चलने के लिए बाध्य करता है। वह समाज म सुव्यवस्था की स्थापना करता है दुष्टो का दमन कर साधु पुरुषो का परित्राण करता है। परन्तु यह काय उसी दशा म सम्भव है जब कि राजा दिव्य चरित्रवान होगा। वह स्वय मनुष्य स ऊचा उठकर देवत्व प्राप्त किये हुए होगा। इसलिए इस सिद्धान्त क अनुसार राजा दव होना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण म एसा सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण क रचनाकाल म राजा की दवी उत्पत्ति के सिद्धान्त क दाशनिक पक्ष पर भी चिन्तन किया गया। इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप राजा के दवी स्वरूप क सिद्धान्त म उसके दाशनिक तत्त्व का भी समावेश किया गया। इस दाशनिक तत्त्व को स्थान मिल जाने से उत्तर वदिक दवी सिद्धान्त का महत्त्व संहिता-कालीन दवी सिद्धान्त की अपेक्षा बहुत अधिक बढ गया। दवी सिद्धान्त म इस तत्त्व के अभाव की जो पूर्ति शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल म हुई वह बड महत्त्व की है। इसने दवी सिद्धान्त के स्वरूप को लोकप्रिय बना दिया।

वदिक दैवी सिद्धान्त का स्वरूप

राजा क दवी सिद्धान्त का जो उल्लेख वदिक साहित्य मे है उसकी अपनी विशेषता है। दवी सिद्धान्त के इस स्वरूप का अन्यत्र प्राप्त होना असम्भव है। वदिक काय राजा की उत्पत्ति पुरोहित द्वारा यज्ञ मे की जाती थी। यज्ञ के अवसर पर यज्ञवेदी पर बठे हुए प्रस्तावित राजा के लिए अनेक देवो का आह्वान किया जाता था[1] और तत्पश्चात उन दवो से प्रत्यक देव का विशेष मात्रा अथवा देवांश की प्राप्ति हेतु याचना की जाती थी। वदिक साहित्य म ऐसे अनेक मंत्र हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट प्रकट करते हैं कि पुरोहित अपन यजमान (भावी राजा) के निमित्त यज्ञ की पवित्र वेदी पर बठा हुआ एव इन दवो की शक्तियो अथवा दवांशो की प्राप्ति के निमित्त उस (भावी राजा) से यज्ञाग्नि म आहुतियाँ दिलाता हुआ देवो से याचना करता था।[2] उस युग की आय जनता का

१ ५।१० यजुर्वेद।   २ ३।११ यजुर्वेद।

विश्वास था कि यन म देव प्रमन्न हाते हैं और वे प्रसन्न होकर होना (Sacrificer) की कामना को सफल करते है। उनके विश्राम के अनुसार यन करन से मनुष्य पवित्र होना है और इस प्रकार यन द्वारा प्राप्त किये गये पुरुष म देव अपनी निय शक्तिया अथवा अपने दवाशा का स्थापना कर देते हैं। और इस प्रकार प्रस्तावित राजा, जो यन करने के पूव साधारण पुरुष होना है यन के उपरान्त दव बन जाता है। इसा लिए वदिक साहित्य म राजा द्वारा किये जान वाले विविध प्रकार के यना की प्रक्रिया एव उनके कृत्या का वणन किया हुआ है। वदिक साहित्य म अनक ऐसे प्रसग हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते है। यजुर्वेद वनिक यन सम्बन्धी कमकाण्ड प्रधान ग्रथ माना जाता है। इसम कई एस मत्र हैं जिनम इस तथ्य को स्पष्ट व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद के नवें अध्याय के उन्तालीसवें मत्र म यह याचना इस प्रकार की गयी है—तुझ (प्रस्तावित राजा) को सविता दव आनाएँ प्रचारित करन के लिए अग्निदेव गहपतिया की रक्षा के लिए सोम वनस्पतिया की रक्षा के निमित्त बहस्पति वाणी क लिए इन्द्र ज्यष्ठता के लिए रुद्र पशुओ की रक्षा के निमित्त, मित्र सत्य की रक्षा हेतु और वरुण धमपतिया की रक्षा के निमित्त अपन देवाश प्रदान करें। यजुर्वेद मे इसी प्रसग म अन्य स्थल पर यह स्पष्ट वर्णित है कि यन की पवित्र वदी पर उठा हुआ पुरोहित साम, अग्नि सूय और इन्द्र के तेज को उनम याचना द्वारा प्राप्त कर होता (प्रस्तावित राजा) मे उन विविध प्रकार के तेजो अथवा देवाशो की स्थापना करता है।[1]

इस प्रकार राजपद प्राप्ति हेतु अमत्य स्वभाव (अनत स्वभाव) मेध्य स्वभाव (दव स्वभाव) म परिणत किया जाता था और जिसके लिए दिव्य गुणो अथवा देवाशो की आवश्यकता होती थी। प्रस्तावित राजा को इन दवाशो की प्राप्ति सविता, अग्नि, सोम बहस्पति, इन्द्र, रुद्र वरुण, मित्र आदि दवो म होती थी। इनके देवाशो को धारण कर वह विशिष्ट दव म परिणत हो जाता था। परन्तु इन देवाशो का धारण करना प्रत्येक पुरुष के लिए सुलभ न था। इनके धारण करने के लिए विशिष्ट आचरण का धारण करना आवश्यक था। इस विशिष्ट आचरण की प्राप्ति की आधारशिला तप और त्याग पर अवलम्बित मानी गयी थी। इस दृष्टि से वदिक आय राजा देव तो अवश्य था परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र आचरण धारण करन पर निभर था। जिस मात्रा म उसका आचरण दिव्य एव पवित्र होता था उसी मात्रा म वह देव समझा जाता था। इसी लिए

१ १७।१० यजुर्वेद।

वदिक साहित्य म विविध श्रणी क राज्यो की ओर सकेत मिलते हैं। य राज्य राज्य विस्तार मात्र की दष्टि स छोटे अथवा बडे नहा समझे जात थे वरन इन राज्यो म निवास करने वाली जनता एव उनक शासका के दिव्य आचरण की मात्रा क आधार पर इस विषय का निणय किया जाता था। इसी दष्टि स इन राज्यो क अधिपतियो को भिन भिन श्रेणियो म परिगणित किया जाता था। वदिक साहित्य म अधिपति क दिव्य आचरण क अनुसार ही इन्द्र वरुण यम, अग्नि सोम आदि की उपाधियाँ प्रदान करने की व्यवस्था दी गयी है। सायण, उव्वट महीधर आदि आचार्यों का मत है कि जो अधिपति वाजपय यज्ञ द्वारा आत्मशुद्धि कर लता था वह सम्राट की उपाधि स विभूषित होन का अधिकारी हो जाता था। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ के सम्पन्न कर लेन क उपरान्त राजा वरुण-पद पान का अधिकारी समझा जाता था। पारमेष्ठ्य यज्ञ सम्पन्न कर लेन के उपरान्त राजा परमेष्ठी पद की प्राप्ति करता था।[1] परन्तु इन विशष एव महत्वपूण यज्ञो के अनुष्ठान करन का अधिकारी प्रत्यक राजा न था। जिस राजा म जिस विशष यज्ञ के अनुरूप दिव्य गुण पाये जायें वही उस यज्ञ के अनुष्ठान करन का अधिकारी समझा गया है अन्य नही। वह भी उतनी ही अवधि क लिए अपन इस विशिष्ट पद पर आसीन रहन का अधिकारी समझा गया है, जितनी अवधि म वह उक्त दिव्य गुणो को धारण किये रहगा और उनके द्वारा अपने अधीन प्रजा के परिपालन एव उन्हें मोक्ष प्राप्ति के माग पर चलन से सम्बन्धित अपने कत्तव्य पालन म सतत सलग्न रहगा। प्राचीन भारतीय साहित्य एस उपाख्याना स ओत प्रोत है जिनम इस विषय का वणन है कि इन्द्र-पद की प्राप्ति हेतु उस युग म राजागण किस प्रकार लालायित रहत थे और उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य म ऐस अनेक राजाओ का उल्लख है जिन्होने इन्द्र पद की प्राप्ति हेतु अनेक अश्वमध यज्ञ किय परन्तु व उस पद का प्राप्ति न कर पाये जिसका एक मात्र कारण यही बतलाया गया है कि उन राजाओ म इन्द्रपद की प्राप्ति हेतु वाछनीय दिव्य आचरण की निर्धारित मात्रा स निम्न कोटि का आचरण था। इसम सदह नही कि ज्यो-ज्यो समय व्यतीत होता गया राजा क इन विविध पदो क स्वरूप एव महत्त्व म भी परिवत्तन होते गये। परन्तु इस विषय की जो घटनाए प्राचीन भारतीय साहित्य म आज हम प्राप्त है उनका वणन जिस रूप म हमारे समक्ष

१ ३०।८ यजुर्वेद। देखिए सायण भाष्य काण्व शाखा यजुर्वेद, उव्वट-महीधर भाष्य, शुक्ल यजुर्वेद।

विद्यमान है उससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वैदिक युग में राजपद विविध श्रेणी के होते थे और इन राजपदों का वर्गीकरण उनके निमित्त पृथक्-पृथक् दिव्य गणों एवं दिव्य शक्तियों के निर्धारण से कर दिया गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राजनीति के इतिहास में अपना विशेष स्थान ग्रहण किये हुए है। वह तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त में तो भिन्न है ही, परन्तु वह वैदिक युग के पश्चात् अन्य युगों के भारतीय दैवी सिद्धान्तों से भी कुछ अंश में भिन्न है और अपनी निजी विशेषता रखता है।

वैदिक दैवी सिद्धान्त की विशेषता

भारतीय दैवी सिद्धान्त में दो तत्त्व विशेष रूप में पाये जाते हैं। वे हैं राजा की दिव्य उत्पत्ति और उसका दिव्य आचरण। वैदिक दैवी सिद्धान्त में ये दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। वैदिक राजा की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गयी है जो सामान्य राजाओं की उत्पत्ति से भिन्न है। वह अलौकिक और असाधारण है। यज्ञ द्वारा प्राप्त तेज से राजा उत्पन्न किया जाता है इसलिए इस प्रक्रिया के अनुष्ठान के कारण वैदिक राजा की उत्पत्ति दिव्य है। इसी लिए वैदिक राजा की उत्पत्ति अलौकिक, असाधारण तथा दिव्य मानी गयी है। यज्ञ की पवित्र वेदी पर आसीन प्रस्तावित राजा पुरोहित द्वारा आहूत देवों के देवांशों को धारण करता है और वह उन्हें इसलिए धारण करता है कि जिससे राजा के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन वह विधिवत् एवं सम्यक् प्रकार से कर सके। इन देवों में भावी राजा उनके केवल उन्हीं देवांशों को प्राप्त कर धारण करता है जो उसके लिए राजा के निर्धारित कर्त्तव्यों के पालन हेतु आवश्यक है। इस प्रकार वैदिक राजा इन देवों के सभी देवांशों का धारण नहीं करता है अपितु उनके कतिपय गुणों अथवा अंशों मात्र का धारण करता है। इन गुणों के धारण से उसमें विशेष प्रकार के आचरण का निर्माण हो जाता है जो किसी एक देव में प्राप्त होना सम्भव नहीं है। विशेष प्रकार का उसका यह आचरण भी उसकी उत्पत्ति के समान ही दिव्य, अलौकिक एवं असाधारण होता है।

राजा की दैवी उत्पत्ति के स्वरूप का यह चित्र वैदिक युग में लगभग इसी रूप में रहा। परन्तु वैदिक युग के उपरान्त उसका यह स्वरूप न रहा उसमें परिवर्तन के प्रत्यक्ष लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। राजा के दैवी स्वरूप का जो चित्र वैदिक युग के व्यतीत हो जाने के उपरान्त भारतीय राजनीति सम्बन्धी साहित्य में उपलब्ध है, उसमें यह भिन्न है यद्यपि लम्बे समय के व्यतीत होने पर भी उसके मूल तत्त्वों में अन्तर नहीं

ग्रान पाया है। रामायण, महाभारत मानवधमशास्त्र ग्रादि ग्रथा म राजा के दवी स्वरूप की जो रूपरेखा खीची गयी है उसमे श्रौर वदिक दवी सिद्धान्त के स्वरूप मे उल्लेखनीय ग्रतर दिखलाई पडता है। इन ग्रथा म यन स राजा की जो उत्पत्ति कही गयी वह स्पष्ट नहा है। परन्तु यह स्पष्ट है कि राजा को स्वय ईश्वर ने उत्पन्न किया है। इस प्रकार इन ग्रथा म जिस युग की राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख है उस युग की जनता का यह विश्वास हो गया था कि उसकी उत्पत्ति ईश्वर ने स्वय देवाणा को सगहीत कर की है। इसलिए इस विधि स उत्पन्न राजा भी दिव्य ग्रलौकिक तथा ग्रसाधारण है यद्यपि दोना का उत्पत्ति की प्रक्रिया मे ग्रतर है। उक्त युग के राजा क विपय म दूसरा उल्लख नीय ग्रतर यह है कि राजा के निमाण हेतु समस्त दवा के ग्रशा का आवश्यकता ग्रनुभव नहा की गया। देवा के प्रतिनिधि ग्रयवा कतिपय महान देवा के ग्रशा की ही ग्रावश्यकता ग्रनुभव की गयी। इन प्रतिनिधि ग्रथवा महान दवा की सख्या भी निर्धारित कर दी गयी जो ग्राठ मात्र बतलायी गयी है। ये ग्राठ दव इन्द्र, वरुण यम कुबेर, सूय ग्रग्नि, वायु ग्रौर चन्द्र हैं।[1] इन ग्राठ देवा की सारभूत मात्राग्रा को सगहीत कर एक महती देवता के रूप म राजा का निर्माण ग्रौर उसका स्वरूप स्थिर किया गया है। इस प्रकार इन ग्रथा म वर्णित राजा ग्राठ महती देवताग्रा के विशिष्ट ग्रशा को धारण करता है ग्रौर वह महान देवता मनुष्य रूप म (नररूपेण) इस भूतल पर विचरण करता है। इन ग्राठ महात् देवा के विशिष्ट ग्रशा को वह इसलिए धारण करता है कि उसका ग्राच रण तदनुकूल बन जाय जिससे वह ग्रपने ग्रधीन प्रजा का परिपालन एव रजन विधिवत करन म समथ हो सके।

वदिक ग्राय राजा के कत्तव्या की ग्रपक्षा उपयुक्त युग के राजा के कत्तव्या का क्षत्र कहा ग्रधिक विस्तृत हो गया ग्रौर उसके समक्ष शासन सम्बन्धी समस्याएँ वदिक युग की तत्सम्बन्धी समस्याग्रा की ग्रपेक्षा कही ग्रधिक बढ गयी ग्रौर उनम ग्रपेक्षाकृत जटिलता की मात्राग्रा म कही ग्रधिक वृद्धि हो गयी। ग्रत इस युग के राजा के स्वरूप म यह ग्रतर ग्राना स्वाभाविक ही था। इसी लिए इस युग म राजपद विशेष रूप म सम्मानित एव मयादा पूण हो गया। यहा कारण है कि मनु न बालक राजा के प्रति भी सत्कार एव सम्मान की ग्रोर लेश मात्र भी उपेक्षा को ग्रसह्य माना है। उनके मतानुसार राजा महान देवता है जो मनुष्य रूप म पथ्वीतल पर विचरण करता है।[2]

१ ४।७ मानवधमशास्त्र। २ ८।७ मानवधमशास्त्र।

आवश्यकतानुसार वह इद्र, वरुण यम, कुबेर आदि आठ देवो का पथक पथक रूप धारण किया करता है। इस प्रकार इस युग के दवी राजा के स्वरूप, उसके अधिकार और कत्तव्य क्षेत्र आदि म अतर है।

इसके उपरात के भारतीय साहित्य, अभिलेखा एव मुद्राओ म राजा का जो स्वरूप उपलब्ध है उसके गम्भीर अध्ययन स ज्ञात होता है कि रामायण महाभारत मानव धमशास्त्र आदि ग्रथो म वर्णित राजा के उपयुक्त दवी स्वरूप म विशेष परिवतन होता चला गया है। उसम विशेषता आती गयी है। इस युग म राजा का स्वरूप सवदेवमय बन गया। इस युग के दवी राजा म सौम्य क्रूर उदार तथा अनुदार सभी देवता निवास करन लगे। पुराणो म राजा का जो स्वरूप वर्णित है वह यही स्वरूप है। विष्णु-पुराण म स्पष्ट बतलाया गया है कि राजा केवल आठ महान देवो का सारभूत मात्राओ अथवा विशिष्ट अशो मात्र को ही धारण नही करता वरन ब्रह्मा, विष्णु महेश इद्र वायु सूय, वरुण धाता, पूषा चद्र तथा इनके अतिरिक्त अय भी जितन दवता शाप और कृपा करने की सामथ्य रखते है वे सभी राजा के शरीर म वास करत ह। राजा सवदेवमय होता है (सवदेवमयो राजा)।[1] परतु वदिक दवी राजा म यह विशषता नही है। उसम न तो सभी देव निवास करते ह और न केवल आठ महान दवो के विशिष्ट अश ही। वदिक दवी राजा सवदेवमय नही है। इस प्रकार वदिक दवी राजा के स्वरूप और पुराणो के दवी राजा के स्वरूप म बहुत बडा अन्तर है।

राजा के दवी उत्पत्ति के सिद्धात की झलक गुप्त कालीन अभिलखो एव मुद्राओ में भी मिलती है। उनके अध्ययन स ज्ञात होता है कि गुप्त काल म राजा साक्षात भगवान का अवतार बन गया था। वह महती देवता और सवदेवमय से भी आगे बढ गया और इस प्रकार वह साक्षात भगवान का रूप समझ लिया गया। वह अचिंत्यपुरुष लोक धाम (लोक का धारण करने वाला) और प्रलय का हतु समझा जाने लगा।[2] इस प्रकार इस युग म राजपद वदिक दवी राजा के पद स कही अधिक विशेषता पूण हो गया। इतना होने पर भी राजा के आचरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा। यदि रामगुप्त की एतिहासिकता मे सत्यता है तो इस घटना के आधार पर लोकप्रिय राजा होने के लिए स्वय राजा म लोकप्रिय चरित्र होना चाहिए, इस तथ्य की प्रत्यक्ष पुष्टि हो

१ २१।१३।१ विष्णुपुराण। २ समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ अभिलेख। समुद्रगुप्त और चद्रगुप्त विक्रमादित्य की स्वणमुद्राएँ।

दिव्य गुणयुक्त हैं। इसीलिए उन्होंने केवल उसी राजा को देव माना है जिसमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है।[1]

इस प्रकार वैदिक राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में क्रमिक विकास हुआ और भारत में भारतीय राजसत्ता के समाप्त होते ही इस सिद्धान्त का भी अन्त हो गया।

वैदिक दैवी सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त

वैदिक दैवी सिद्धान्त और पाश्चात्य देशों के तत्त्वदर्शियों द्वारा स्थापित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त में मूलतः अन्तर है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाया गया है। इस राजा का सम्पूर्ण दायित्व ईश्वर पर ही है अर्थात् वह अपने उचित अथवा अनुचित सभी कार्यों के लिए ईश्वर द्वारा ही पुरस्कृत अथवा दण्डित किया जा सकता है। वह अपने कार्यों के लिए अपनी प्रजा के समक्ष किसी अंश में भी उत्तरदायी नहीं समझा जा सकता। इसलिए प्रजापरिपालन तथा प्रजारंजन सम्बन्धी उसके कर्तव्य लोकदृष्टि से कुछ भी नहीं हैं। इस राजा के अधीन प्रजा अपने कल्याण हेतु अपने इस राजा को कार्य करने के लिए बाध्य रूप में किसी प्रकार भी बाध्य नहीं कर सकती। प्रजा के लिए इस राजा की आज्ञाएँ चाहे वे उचित हों अथवा अनुचित, ईश्वर की आज्ञाएं हैं। प्रजा द्वारा राजा की आज्ञाओं का उल्लंघन किया जाना ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने के समान ही माना गया है। इसलिए इस विचारधारा के अनुयायियों के अनुसार राजा द्वारा दी गयी उचित अथवा अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का प्रजा द्वारा अक्षरशः पालन किया जाना प्रजा का परम कर्तव्य बतलाया गया है। दैववश यदि किसी राज्य में बुरा राजा है तो इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने स्वयं उस राज्य की प्रजा के पाप कर्मों के परिणामस्वरूप उसके लिए इस राजा को भेजा है। ईश्वर ने उन लोगों को उनके पूर्वकृत पापों के अनुसार दण्ड देने के लिए इस प्रकार का राजा जान-बूझ कर उन्हें दिया है। राजा के विरुद्ध प्रजा के किसी प्रकार के भी अधिकार नहीं होते, जो कुछ भी अधिकार प्रजा भोगती है वह राजा द्वारा प्रदान किया हुआ उसकी कृपा मात्र है। पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त के इस स्वरूप में अटूट निष्ठा रखने वाले राजाओं में इंग्लैण्ड देश के राजा जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम और जेम्स द्वितीय तथा फ्रांस का राजा लुई चतुर्दश मुख्य हैं। इन राजाओं ने इस सिद्धान्त को

१ ३५।१ शुक्रनीति।

कार्यान्वित करन का भरसक प्रयत्न किया और इसी कारण अपने अधीन प्रजा से उनका सघर्ष होता रहा।

परन्तु वदिक दवी सिद्धान्त इस पाश्चात्य विचार धारा से नितान्त भिन्न है। वदिक विचार धारा क अनुसार राजा दव अवश्य माना गया है, परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र एव दिव्य आचरण पर आश्रित है। राजा दवा की विभूतिया अर्थात देवाशा को धारण करता है। इन विभूतिया की प्राप्ति एव उनका धारण करना सवसाधारण के लिए सम्भव नही है। राजा उग्र तपस्या एव कठोर आत्मसयम का आश्रय लेकर इन विभूतिया अथवा दवाशा को प्राप्त करता है और फिर प्रजा के कल्याण सम्बन्धी अपने कत्तव्य-पालन म उनका उपयोग करता है। इस प्रकार वदिक दवी राजा अपनी प्रजा क लिए आदश चरित्र की साक्षात मूर्ति होता है। राजा का यह दिव्य आचरण उसक अधीन प्रजा को अपन दनिक जीवन म सुपथगामी बनाने के निमित्त निरतर प्ररित करता रहता ह।

इसके अतिरिक्त वदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार अपने कार्यों क लिए राजा का दायित्व ईश्वर अथवा किसी विशप दव पर नही है। वह अपन कार्यों के लिए अपने राज्य की जनता क प्रति उत्तरदायी होता है। प्रजा क अधिकारो एव कत्तव्यो का निर्धारण राजा द्वारा नही किया जाता अपितु उन नियमा अथवा विधियो द्वारा किया जाता है जिनके निर्माण म राजा का अधिकार लेश मात्र भी नही है। राजा इन नियमा अथवा विधिया का रक्षक मात्र हाता है। उस स्वय इन नियमा अथवा विधिया के अतगत ही अपन अधिकारा का भोग करना एव कत्तव्या का पालन करना पडता है। वह अपन इस कत्तव्यक्षत्र की सामा के अतिक्रमण करने का वध अधिकारी नही है। साथ हा उस जो अधिकार जिस रूप म भोग करन क लिए नियमानुसार प्रदान किये गये है वह उसी मात्रा एव उसी रूप म उनके मागन का वध अधिकारी है। अपन अधीन प्रजा का परिपालन एव उस सुपथ पर ल चलना उसका मुख्य कतव्य है। वदिक दवी सिद्धान्त म राजा इस भूतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहा है।

इस प्रकार वदिक दवी सिद्धान्त विशिष्ट एव अद्वितीय तथा महत्त्वपूण है और यह राजशास्त्र क इतिहास म विशप स्थान ग्रहण किय हुए है।

अध्याय ४

राज्य का स्वरूप

राज्य का सप्तांग स्वरूप

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने राज्य का स्वरूप सप्तांग, सप्तात्मक अथवा सप्तप्रकृतियुक्त निर्धारित किया है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग अथवा राज्य की सात प्रकृतियां होती हैं। इन्हीं सात अंगों अथवा प्रकृतियों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। महाभारत में राज्य के यह सात अंग आत्मा (राजा) अमात्य कोश दण्ड (सेना), जनपद और पुर बतलाये गये हैं।[1] धर्मशास्त्रों में भी राज्य का स्वरूप यही माना गया है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र में राज्य का स्वरूप सप्तात्मक वर्णन किया है। उन्होंने अपने इस सप्तात्मक राज्य को सप्तप्रकृतियुक्त माना है। उनके द्वारा वर्णित राज्य की सात प्रकृतियाँ स्वामी अमात्य, पुर, राष्ट्र कोश, दण्ड और सुहृद हैं।[2] राजनीति साहित्य में आचार्य कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र अपनी श्रेणी के साहित्य में प्रतिनिधि ग्रंथ है। उन्होंने भी अपने इस ग्रंथ में राज्य के सप्तांग स्वरूप को स्वीकार किया है। आचार्य कौटिल्य ने भी राज्य के इन सात अंगों को राज्य की सात प्रकृतियां की संज्ञा दी है, जिन्हें उन्होंने स्वामी अमात्य जनपद, दुर्ग, कोश दण्ड और मित्र के नाम से सम्बोधित किया है।[3] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी राज्य का यही स्वरूप स्वीकार किया है। उनके मतानुसार भी राज्य के ये सात अंग स्वामी, अमात्य सुहृद कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल है।[4] इसी प्रकार कामन्दक सोमदेव सूरि आदि आचार्यों ने भी राज्य का वर्णन सप्तांग रूप में ही किया है।

इस प्रकार वैदिक युग के उपरान्त प्राचीन भारत में राजशास्त्र के जो प्रमुख विचारक हुए हैं लगभग सभी ने, राज्य के सप्तांग स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होंने इन अंगों की उत्तमता एवं विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी है। [उनका मत

१ ६५।६९ अनुशासन पर्व, महाभारत। २ २९४।१ मानवधर्मशास्त्र।]
३ १।१।६ अर्थशास्त्र। ४ ६१।१ शुक्रनीति।

पुरुष म असख्य सिर असख्य नेत्र, असख्य बाहु, अस... ...कल्पना की गयी है। उसी विराट पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूय, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1] इसी प्रसग मे समाज की उत्पत्ति का भी उल्लेख है। समाज की उत्पत्ति म भी इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। समाज की उत्पत्ति क विषय म ऋग्वेद मे इस प्रकार का वणन है—विराट पुरुष के मुख स ब्राह्मण, बाहु म राजन्य, जघा स वश्य और परो से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[2] इस प्रकार ऋग्वदीय युग के समाज का निर्माण एव विकास आवयविक सिद्धान्त के आधार पर माना गया है। परन्तु ऋग्वद म एक भी ऐसा पुष्ट प्रमाण नही है जिसके आधार पर राज्य की उत्पत्ति, उसके सगठन उसके विकास आदि मे आवयविक सिद्धान्त का आश्रय लिया गया हो, या ऐसा निश्चयपूवक कहा जा सके।

यजुर्वेद म वणित सष्टि रचना क्रम म भी इस सिद्धान्त का आश्रय ऋग्वेद के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त क अनुसार ही लिया गया है। उक्त प्रसग म यजुर्वेद म ऋग्वेद-वर्णित भावा की ही पुनरावत्ति की गयी है। यजुर्वेद के इस प्रसग म भी विराट पुरुष क मन स चन्द्रमा, नत्र से सूय कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति उसी प्रकार बतलायी गयी है।[3] समाज क निर्माण म भी यजुर्वेद म ऋग्वेद की भाति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वश्य और शूद्र की उत्पत्ति विराट पुरुष क मुख बाहु, जघा और पाद स क्रमश बतलायी गयी है।[4]

समाज निर्माण के इस प्रसग के अतिरिक्त यजुर्वेद म कतिपय एसे सकेत भी प्राप्त ह जिनसे ज्ञात होता है कि यजुर्वेदीय ऋषियो न राज्य के तत्कालीन आवयविक सिद्धान्त का आश्रय अपने राजनीतिक जीवन म भी ग्रहण किया था। यजुर्वेद क एक प्रसग म राज्य की कल्पना पुरुष रूप मे की गयी है। वहा पर इस प्रसग म राज्य की कल्पना पुरुष रूप म करते हुए उसके अग प्रत्यगा का वणन राज्य के कतिपय अगा क रूप म किया गया है। यजुर्वेद के इस प्रसग म इस प्रकार वणन है—

मेरा (विराट पुरुष की) पीठ भूभाग (राष्ट्र) है मेरा उदर मेरी ग्रीवा मेरी कटि और मेरी जघा घुटन गट्टे यह सभी मेरी प्रजा (विश) हैं।[5] मेरा सिर कोश (श्री) है, मेरा मुख, मेरे केश और मेरी दाढी-मूछ मेरी दीप्ति अथवा प्रताप हैं। मेरा अमर

१ १३।९०।१० ऋग्वेद। २ १२।९०।१० ऋग्वेद। ३ १२।३१ यजुर्वेद।
४ ११।३१ यजुर्वेद। ५ ५।२० यजुर्वेद।

प्राण राजा है।[६] यजुर्वेद म आये हुए ये प्रसग सिद्ध करत है कि यजुर्वेद म राज्य के आवयविक स्वरूप की कल्पना की गयी है। परन्तु यजुर्वेदीय युग म राज्य के आवयविक स्वरूप की क्सी रूपरेखा रही होगी इन सकेता मात्र के द्वारा इस विषय का स्पष्ट होना असम्भव है। न यजुर्वेद म और न वदिक साहित्य म अन्यत्र ही इस प्रकार की समुचित सामग्री उपलब्ध है जिसका आश्रय लकर राज्य के इस आवयविक स्वरूप की रूपरेखा निर्धारित की जा सके। इस विषय म इतना मात्र निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि यजुर्वेदीय आय राज्य के आवयविक स्वरूप क सिद्धान्त स परिचित रहे होगे। यही बात अन्य दो सहिताओ (साम और अथव) पर भी लागू होती है। इन सहिताओ म भी राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त को स्पष्ट करन क लिए इस सामग्री स अधिक सामग्री उपलब्ध नही है। इसलिए इस विषय म इतना मात्र ही निश्चय पूवक कहा जा सकता है कि वदिक सहिताकालिक आयगण राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धात स परिचित थे।

राज्य के आवयविक स्वरूप का यह सिद्धात सहिता युग के उपरान्त बहुत समय तक लगभग इसी रूप मे प्रचलित रहा। उत्तर वदिक काल म इस सिद्धात म कितना और किस रूप म विकास हुआ इस विषय का बोध करान क लिए वदिक साहित्य म प्रामाणिक सामग्री का सवथा अभाव है। इसलिए उस युग म इस सिद्धात म कितना और किस दिशा म विकास हुआ इस विषय म कुछ भी कहा नही जा सकता। परन्तु यह निर्विवाद है कि उत्तर वदिक काल म राज्य के सप्താग अथवा सप्तात्मक स्वरूप के सिद्धात की स्थापना किसी रूप म भी नही हुई थी। राज्य क कतिपय अगो का उल्लेख वदिक साहित्य म अवश्य मिलता है परन्तु इस उल्लेख म किसी प्रकार भी यह सिद्ध नही होता कि इन अगो की कल्पना वदिक आर्यों ने राज्य के अगो के रूप म अथवा सप्ताग राज्य या सप्तात्मक राज्य के अगो क रूप म की थी। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के सप्ताग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की स्थापना उत्तर वदिक काल के उपरात किसी समय की गयी होगी।

वैदिक आवयविक सिद्धात और पाश्चात्य आवयविक सिद्धात

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र म राज्य के आवयविक स्वरूप क सिद्धात की जो रूपरेखा वदिक युग के उपरात भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओ द्वारा निर्धारित की

६ ८।२० यजुर्वेद।

गयी है और जिसके अनुसार सप्ताग अथवा सप्तात्मक राज्य की कल्पना की गयी है उस सिद्धान्त से वदिक आवयविक सिद्धान्त भिन्न है, यह तथ्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि वदिक आवयविक सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से भी नितान्त भिन्न है। कतिपय पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों—कार्ल जकरिया (Karl Zacharia), कार्ल वाल्ग्रफ (Karl Volgraff) कास्टेंटिन फ्रैंज (Constantin Franz), ज० के० ब्लशी (J K Balantschli), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) आदि—द्वारा राज्य के आवयविक स्वरूप की जो रूपरेखा खींची गयी है और उसके क्रमिक विकास का वर्णन जिसमें किया गया है उसमें और तत्सम्बन्धी वदिक सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसके विकास में समता नहीं की जा सकती। इन दोनों में मूलतः अन्तर है। वदिक आवयविक सिद्धान्त में एक का अनेक रूप में प्रकट होना (एकोऽहं बहु स्याम) और पुनः अनेक का एक में लय हो जाना इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। परन्तु पाश्चात्य राजनीति के इन चिन्तकों ने राज्य को जीवधारी रचना (Living Organism) माना है। राज्य के विभिन्न विभाग (Departments) इस जीवधारी रचना के कोषाणु (Cells) हैं जो राज्य के विकास के साथ-साथ विकसित होते रहते हैं। वेदों में राज्य की उत्पत्ति विराट पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों से बतलायी गयी है। उसके अवशेष अंगों से राज्य के अतिरिक्त जगत के अन्य प्राणियों एवं पदार्थों की भी उत्पत्ति मानी गयी है। इसलिए विराट पुरुष का विकास राज्य मात्र तक सीमित नहीं है। राज्य उसका आंशिक विकास मात्र है। विराट् पुरुष सम्पूर्ण जगत का समष्टि रूप है और महाप्रलय के समाप्त होने पर उसी विराट् पुरुष से विविध प्रकार की सृष्टि का पुनः सृजन होता है। इस प्रकार यह सृष्टि रचना का एक सिद्धान्त है जिसमें भारतीय आर्य जनता अनन्त काल से विश्वास करती चली आ रही है। सृष्टि के इसी सृजन के अन्तर्गत राज्य का भी सृजन इसी विराट पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों से हुआ है, वदिक साहित्य में ऐसा वर्णित है।

इस प्रकार वदिक आवयविक सिद्धान्त एक विशेष कल्पना है जिसकी समता, इस रूप में पाश्चात्य राजशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से नहीं की जा सकती। वदिक आवयविक सिद्धान्त अपनी निजी विशेषता के कारण राजनीति के इतिहास में अद्वितीय स्थान ग्रहण किये हुए है और इसी प्रकार अपना निजी अस्तित्व रखे हुए है।

अध्याय ५

राज्य के तत्त्व

सप्ततत्त्व सिद्धान्त

राज्य एक मानव संघ है। अन्य मानव संघो की अपेक्षा यह एक विशिष्ट संघ है। इस संघ की विशेषता इसके स्वाभाविक स्वरूप एवं इसके उन तत्त्वो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है जिनके द्वारा इसका निर्माण होता है। आधुनिक युग मे राजशास्त्र के कतिपय विद्वानो ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का विशेष अध्ययन किया है। इन विद्वानो मे कुछ ऐसे भी है जिन्होने प्राचीन भारतीय राज्य के तत्त्वो पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इन विद्वानो का मत है कि प्राचीन भारत मे राज्य के सात तत्त्व मान गये थे। इसी आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख प्रणेताओ ने सप्तात्मक अथवा सप्तप्रकृतियुक्त राज्य मानकर उसे सप्तात्मक अथवा सप्तांग वा सप्तप्रकृतियुक्त राज्य के नाम से सम्बोधित किया है। राज्य के ये कथित सात तत्व राजा अथवा स्वामी वा आत्मा मंत्री अथवा अमात्य कोश राष्ट्र अथवा जनपद वा देश, सेना अथवा बल, दुर्ग अथवा पुर और मित्र अथवा सुहृद् हैं।[1] इस प्रकार इन विद्वानो का ऐसा मत है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओ ने राज्य के सात तत्व माने थे और जो यही सात तत्व थे।

परन्तु इन विद्वानो का यह मत जब सत्य की कसौटी पर परीक्षण हेतु रखा जाता है, खरा नहा उतरता। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक जीवधारी अथवा अजीवधारी पृथिवी तल पर तभी तक अपना अस्तित्व धारण करता है जब तक कि उसके वे तत्व जिनसे उसका निर्माण हुआ है उसमे विद्यमान रहते हैं। तत्वविहीन हो जाने पर उसका अस्तित्व तुरन्त नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी को ले लीजिए। पानी का निर्माण उसके दो तत्वो से हुआ है। वे हैं आक्सीजन और हाईड्रोजन। जब

१ २४९।९ मानवधर्मशास्त्र। ६४।६९ अनुशासन पर्व महाभारत।
१।१।६ अर्थशास्त्र। ६१।१ शुक्रनीति।

तब दोनों तत्व परस्पर संयुक्त रहते हैं, पानी का अस्तित्व बना रहता है। ज्यों ही दोनों तत्व परस्पर पृथक् हो जाते हैं उसी क्षण पानी का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। प्रकृति का यही नियम है। मानव समाज एवं विविध प्रकार के अन्य सभी मानव संघों पर भी प्रकृति का यह नियम अबाध रूप में लागू है। मानव समाज एक संगठित जन समुदाय है। कुछ लोग, कुछ नियम एवं निर्दिष्ट उद्देश्य आदि इसके तत्व हैं जिनसे इसका निर्माण होता है। समाज के इन तत्वों में एक तत्व का भी अभाव समाज के अस्तित्व को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार राज्य एक राजनीतिक मानव-संघ है। राज्य के भी कुछ तत्व होते हैं और उन्हीं तत्वों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। परन्तु ज्यों ही राज्य के इन तत्वों में एक तत्व का भी अभाव हो जाता है उसी क्षण राज्य का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि राज्य के अस्तित्व के लिए उसके सभी तत्वों का एक साथ संयुक्त रहना अनिवार्य है।

परन्तु प्रकृति का यह नियम अंगों पर लागू नहीं होता। मनुष्य अंगविहीन हो जाने पर भी जीवित रहता है और मनुष्य ही बना रहता है उसके अस्तित्व का नाश नहीं होता है। एक अंग के अभाव में शरीर के दूसरे अंग शरीर के उस अंग के कार्य-भार को धारण कर लेते हैं और इस प्रकार उस मनुष्य के शरीर का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है और वह अपने कर्तव्य का पालन पूर्ववत् करता रहता है। हाथ कट जाने पर टांग के न रहने पर, नेत्रहीन हो जाने पर अथवा श्रवण शक्ति के चले जाने पर भी वह मनुष्य ही कहलाता है। यह सत्य आवश्यक नहीं कि अंगहीन हो जाने पर मनुष्य का अस्तित्व नष्ट हो जाय। वह जीवित रहता है और मनुष्य ही कहलाता है। परन्तु जिन तत्वों से मनुष्य का निर्माण हुआ है उनमें एक का भी अभाव उसे अस्तित्वहीन कर देगा और उसका अस्तित्व सदैव के लिए नष्ट हो जायगा। इस कसौटी पर जब राज्य के उपर्युक्त कथित सात तत्वों की परीक्षा की जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राज्य के तत्व नहीं हैं अपितु उसके अंग मात्र हैं। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य को सप्तात्मक अथवा सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित किया है। यह स्पष्ट है कि राज्य के इन कथित तत्वों में कुछ ऐसे हैं जिनका अभाव होने पर भी राज्य ज्यों-का-त्यों बना रहता है और उसके अस्तित्व पर किसी रूप में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, राज्य से उसके सुहृद् अथवा मित्र अंग को पृथक् कर देने पर उसके अभाव में राज्य का अस्तित्व मिटता नहीं है

और विश् का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हुआ है।[1] अथर्ववेद में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए राष्ट्र और विश् का प्रयोग एक साथ हुआ है।[2] इन प्रकरणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में आर्य राज्य के राष्ट्र और विश दो पृथक् तत्त्व माने गये थे।

वैदिक संहिताओं में राज्य का तीसरा तत्त्व भी मिलता है। वह तत्त्व वैदिक साहित्य में क्षत्र के नाम से उल्लिखित है। वैदिक आर्यों में एक विशेष वर्ग जिसे वैदिक भाषा में राजन्य भी कहा गया है, क्षत्र पदवी धारण करता था। सम्पूर्ण समाज की रक्षा की सामर्थ्य के गुण को क्षत्र कहते थे। आर्य राज्य में राजन्य वर्ग ही शासक था। वही वर्ग शासनाधिकारी था। इस दृष्टि से वैदिक राज्य की सरकार अथवा राजनीतिक एकता का प्रतीक यही राजन्य वर्ग था। इस प्रकार वैदिक संहिता-कालीन आर्य राज्य का तीसरा तत्त्व राजन्य था। यही कारण है कि राष्ट्रवासी होने पर भी राजन्य (क्षत्रिय वर्ग) आर्य राज्य में उस युग में जन साधारण से भिन्न बतलाया गया है। राजन्य का एकमात्र कर्तव्य शासन करना निर्धारित किया गया था। इस दृष्टि से राजन्य ही आर्य राज्य की सरकार और वे ही उसकी राजनीतिक एकता के मूल थे।

परन्तु वैदिक ऋषियों ने राजन्य की स्वतन्त्रता के कुप्रभावों एवं उसके उच्छृंखल हो जाने के दुष्परिणामों को भी ध्यान में रखा था। उन्होंने इसीलिए यह आवश्यक समझा कि राज्य में राजन्य स्वेच्छा से रक्कर मर्यादा का अतिक्रमण कर सकता है, और ऐसा हो जाने पर राज्य का निर्माण जिस हेतु किया जाता है वह उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। राज्य नष्ट होकर अराजक समाज में परिवर्तित हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में मात्स्य न्याय का आधिपत्य हो जायगा। इस दशा में लोग परस्पर भयभीत होकर नष्ट हो जायेंगे। इसलिए राजन्य को मर्यादित एवं सम्यक् नियन्त्रण में रखने के लिए एक विशेष बल के सृजन की आवश्यकता अनुभव की गयी। यही बल, वैदिक भाषा में ब्रह्मबल के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्य में ब्रह्मबल का प्रतीक ब्राह्मण माना गया है। ब्राह्मण का प्रधान कर्तव्य तप और त्याग द्वारा ब्रह्मबल अर्जित करना उसके द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण हेतु राजन्य का पथप्रदर्शन करना और उस (राजन्य को) नियन्त्रण में रखना था।

१ ८।२० यजुर्वेद। २ ९।१।१३ अथर्ववेद।

इस प्रकार वन्ति संहिताओं म राज्य के चार तत्वों की कल्पना की गयी थी। वदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ये चार तत्व राष्ट्र, विश् क्षत्र और ब्रह्म थ। इन्ही चार तत्वों क समाग से वन्ति आय राज्यों का निर्माण हुआ था। अथववद म इस सिद्धांत की पुष्टि करते हुए राज्य के इन तत्वों का आर मकत किया गया है।[1]

वदिक संहिताओं में राज्य के तत्वों का स्वरूप

उपयुक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वदिक संहिताओं म वन्ति आय राज्य के चार तत्व पाये जात है। राज्य के ये चार तत्व राष्ट्र विश क्षत्र और ब्रह्म है। वन्ति संहिता कालीन आय राज्य के उपयुक्त चार तत्वों का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस जान लन की भी आवश्यकता है। आधुनिक युग म राज्य के जो तत्व निर्धारित किय गय है उनस व कहाँ तक समान अथवा असमान थ ? उन दोनों प्रकार के तत्वों म क्या विशषता थी ? आदि विषयों का बोध होना परमावश्यक है। संहिता-कालीन आय राज्य के तत्वों के स्वरूप का वणन जसा कि वन्ति संहिताओं में पाया जाता है यथासम्भव इस प्रसंग म दिया जा रहा है।

(क) ब्रह्म का स्वरूप

वदिक संहिताओं म सृष्टि रचना क्रम का वणन है। सृष्टि रचना क्रम सम्बन्धी प्रसंगों म उस युग के समाज के निर्माण एव उसके संगठन की ओर भी सकेत किये गये ह। इन सकेतों स ज्ञात होता है कि मनुष्य के सर्वांग सम्यक विकास के लिए सुव्यवस्थित उच्च आदश सम्पन्न समाज की परम आवश्यकता होती है। इस समाज में रहता हुआ मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वांग पूण सम्यक विकास करता रहता है। उसके विकास के साथ साथ उसके समाज का विकास भी उसी क्रम से होता रहता है। मनुष्य इसी समाज म रहता हुआ अपन कतव्यों का पालन करता है और उसी क्रम स अपन अधिकारों का भी भोग करता रहता है। इस प्रकार वह इस लोक म सुख और शांतिमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपन जीवन के परम एव चरम ध्येय को प्राप्त करने म समथ होता है। परन्तु इस प्रकार के व्यक्ति एव उसके समाज के निर्माण हेतु प्राणिमात्र के कल्याण करन वाले कार्यों के बोध के निमित्त यथाथ ज्ञान की परम आवश्यकता होती है। इस यथाथ ज्ञान द्वारा ही मनुष्य और उसके समाज के सम्यक्

१ ८।५।१३ अथववेद।

विकास एव कल्याण हेतु योजनाएँ बनायी जा सकती है। इन्ही योजनाओ के कार्यान्वित होने से इस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है। वैदिक भाषा में इस ज्ञान को ब्रह्मबल की संज्ञा दी गयी है। वैदिक विचार धारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मबल धारण करने की सामर्थ्य नही रखता। इस प्रकार सभी मनुष्य ब्रह्मबल धारण करने के अधिकारी नही होते। इसलिए मानव-समाज के प्रतिभा-सम्पन्न कुछ विशेष पुरुषो को ब्रह्मबल धारण करने का अधिकारी समझा गया है। सदाचारी वीतराग प्राणिमात्र का कल्याण चाहने वाले, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण को ब्रह्मबल धारण करने का अधिकारी बतलाया गया है। ब्राह्मण प्राणिमात्र के कल्याण हेतु उनके सुख एव शान्ति हेतु जीवन सम्बन्धी योजना का निर्माण कर उसको लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ब्रह्मबल राज्य म बुद्धि तत्त्व है। वह बुद्धि तत्त्व साधारण कोटि का नही है अपितु विशेषतापूर्ण है। वह सद्बुद्धि अथवा सुमति है जो प्राणिमात्र के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करती है और इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देती है। इस प्रकार ब्रह्मबल मनुष्य को इस लोक म सुख और शान्तिमय जीवन की योजना प्रस्तुत करता हुआ उसके जीवन के परम एव चरम ध्येय तक उसे ले जाने म उसके दक्षिण हाथ की भाति निरन्तर सहायक बना रहता है।

(ख) क्षत्र का स्वरूप

परन्तु मनुष्य म सुर और असुर दोनो वृत्तिया होती है। इन वृत्तियो म परस्पर निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष म कभी सुर और कभी असुर वृत्तिया विजयी होकर मनुष्य को आगे-पीछे खींचती रहती है। इस खींच-तान का परिणाम यह होता है कि मनुष्य मोह-ग्रस्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति म क्या सत्य है और क्या अनृत इसके जानने म वह असमर्थ हो जाता है। वह अपने कर्तव्य-पथ से विचलित होकर अपने गन्तव्य स्थान से दूर पहुँच जाता है और इस प्रकार वह अपने जीवन म विफल रहता है। इसलिए उचित समझा गया कि इस योजना के विधिवत कार्यान्वित होने के लिए मानव समाज मे एक विशेष प्रकार के बल का सृजन किया जाय जिसके द्वारा ब्रह्मबल की ओर से प्रस्तुत की जाने वाली लोक कल्याणदायिनी योजनाओ को कार्य रूप देने के निमित्त सम्यक व्यवस्था की जा सके और इस प्रकार असुर-वृत्तियो के कुप्रभाव के कारण पथ भ्रष्ट मनुष्य को दण्ड देकर उसे पतन से बचा लिया जाय और कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जाय। वैदिक भाषा में इसी बल को क्षत्रबल अथवा क्षत्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस बल को भी ब्रह्मबल के समान

ही सभी प्राणी धारण करने में समर्थ नहीं होते। ब्रह्मबल के समान यह बल भी मानव समाज के एक विशेष वर्ग में निहित माना गया है। मनुष्यों का यह वर्ग राजन्य बतलाया गया है। मानव समाज में राजन्य क्षत्रबल को धारण करते हैं ऐसा वैदिक संहिताओं में वर्णित है।[1] इस प्रकार क्षत्र का एक मात्र कर्तव्य ब्रह्म की आज्ञाओं का पालन करना और उसके अधीन रहकर उसके द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत की गयी लोक कल्याणदायिनी योजनाओं को कार्यान्वित करते रहना है। इस दृष्टि से क्षत्र प्रभु नहीं है ब्रह्म प्रभु है। उसी में राज्य की प्रभुता का निवास है। क्षत्र राज्य की सरकार है।

वैदिक संहिताओं में लोक कल्याण के लिए ब्रह्म और क्षत्र के महत्व की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। ये दोनों पारस्परिक सहयोग द्वारा मनुष्य एवं उसके समाज का कल्याण करने में सतत व्यस्त रहते हैं। ब्रह्म मानव समाज में सुख और शांति की स्थापना हेतु सम्यक् व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत करता रहता है और क्षत्र इस व्यवस्था को कार्य में परिणत करने के लिए भरसक प्रयत्न करता रहता है। वह उसके शुद्ध रूप को स्थायित्व देने के लिए लोक के समक्ष अधिक से अधिक सुविधा प्रदान करने में निरंतर संलग्न रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि यह लोक प्राणियों के सुख एवं शांतिमय जीवन व्यतीत करने योग्य बन जाता है। इस तथ्य की पुष्टि में वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र संकेत किये गये हैं। यजुर्वेद में उस लोक को पुण्यवान् बतलाया गया है जहाँ ब्रह्म और क्षत्र में परस्पर सुमति रहती है और दोनों परस्पर सहयोग से रहते हैं एक दूसरे के पूरक बनकर विचरण करते हैं।[2] ब्रह्म पथ प्रदर्शन करता है और क्षत्र ब्रह्म द्वारा निर्धारित एवं लक्षित किये गये पथ पर सम्पूर्ण समाज को ले चलने की व्यवस्था करता है और उस व्यवस्था के अनुसार वह उसे उस पथ पर चलने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार क्षत्र ब्रह्म के नेतृत्व में रहकर ब्रह्म द्वारा प्रस्तुत सुख और शान्ति की योजना को कार्यान्वित करने के लिए जनता को बाध्य करता रहता है। यजुर्वेद में लक्षित इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और क्षत्र मनुष्य और उसके समाज के सम्यक् विकास हेतु अनिवार्य हैं। ब्रह्म की सहायता के बिना मनुष्य चक्षुहीन पुरुष के समान भ्रष्ट होकर इधर उधर भटक कर नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर यह निर्विवाद है कि ब्रह्म की सहायता से अपने गन्तव्य

१ १।२० यजुर्वेद। २ २५।२० यजुर्वेद।

स्थान एव उसके माग को जान लेने पर भी वह क्षत्र की सहायता के बिना अपने गन्तव्य स्थान तक पहुच नही पाता। उसके माग म अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। क्षत्र मनुष्य और उसके गन्तव्य स्थान के माग म उपस्थित विघ्न-बाधाओ का शमन करता है और इस प्रकार उसके माग को प्रशस्त बना देता है। इस दृष्टि से ब्रह्म और क्षत्र दोनो अन्योन्याश्रित बतलाये गये हैं एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव माना गया है। व परस्पर पूरक हैं।

(ग) विश का स्वरूप

इस प्रकार वदिक आय राज्य म ब्रह्म और क्षत्र अर्थात ब्राह्मण और राजन्य दोनो जन साधारण स पथक समझे जाते थे, जन साधारण म उनकी गणना नही की गयी थी। दूसरी ओर वदिक आय राज्य म वे लोग भी जन-साधारण म सम्मिलित नहो किय गये थ जिनका व्रत सेवा करना मात्र था जिन्हें वदिक भाषा म शूद्र नाम से सम्बोधित किया गया ह। इन्हें सम्पत्ति के अधिकार से वचित रखा गया था। इस प्रकार ब्राह्मण, राजन्य और शूद्र को जन-साधारण से पथक कर दिया गया था। वदिक राज्य की जनता (People) केवल व लोग मान गये थे जिनके जीवन का व्रत राज्य म ब्राह्मण राजन्य, शूद्र और स्वय अपने सम्यक भरण पोषण के निमित्त वाछनीय सामग्री का उत्पादन एव सवद्धन करना था। अपने इस व्रत का पालन करने के लिए वे समय एव परिस्थितियो के अनुसार व्यवसाय धारण करते थे। उस युग म उनके मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार और रुपए पसे के लेन देन सम्बन्धी काय थे। वदिक भाषा म इन्हा लोगो को विश नाम से सम्बोधित किया गया है और इन्हें वदिक आय राज्य का एक तत्व माना गया है।

इस दृष्टि म आधुनिक युग की राजनीतिक विचार धारा के अनुसार राज्य के इस तत्व की जो कल्पना की गयी है उसम और वदिक राजनीतिक विचार धारा क अनुसार उसकी जो रूपरेखा निश्चित की गयी है इन दोनो म अन्तर है। आधुनिक युग म राज्य क लगभग सभी निवासी उस राज्य के इस तत्व के अन्तगत परिगणित किये गये हैं। परन्तु वदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ऐसा नही है। इस विचारधारा के अनुसार केवल वे लोग यह तत्व माने गये है जिन पर राज्य के सम्पूण प्राणियो के भरण-पोषण हेतु वाछनीय सामग्री के उत्पादन एव उसके सवधन का दायित्व था। इस प्रकार वदिक राज्य के इस तत्व का क्षेत्र आधुनिक युग के राज्यो के तत्सम्बन्धी तत्व क क्षत्र की अपेक्षा सकीण एव अनुदार जान पडता है।

(घ) राष्ट्र का स्वरूप

राष्ट्र का तात्पर्य उस भूभाग से है जो राज्य-सीमा के अन्तर्गत आता है। राष्ट्र के स्वरूप के विषय में वैदिक संहिताओं में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। राज्य के लिए किस प्रकार का भूभाग (राष्ट्र) होना चाहिए उसके अन्न, धाम काष्ठ रत्न आदि के उत्पादन की सामर्थ्य एवं ऋतुओं के प्रभाव जल की सुविधा आदि विषयों का विवेचन नहीं किया गया है। इतना होने पर भी वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र कुछ ऐसी प्रार्थनाएँ की गयी हैं जिनमें इस ओर कतिपय संकेत किए गए हैं और जिनके आधार पर आदर्श राष्ट्र के विषय में संहिताकालीन वैदिक ऋषियों की जो धारणा थी किसी अंश तक उसका अनुमान किया जा सकता है। इस विषय में ऋग्वेद के एक सूक्त में कतिपय संकेत इस ओर किये गये हैं जिनका उल्लेख इस प्रसंग में कर देना उचित होगा। ऋग्वेद के इस सूक्त में सोम के प्रति प्रार्थना की गयी है—हे सोम! जिस भूभाग (लोक) में आनन्द, आमोद प्रमोद आदि है और जहां सारी कामनाएं तृप्त हो जाती हैं वहाँ मेरा वास हो।[1] जिस लोक में सूर्यदेव राजा हैं जो सुख का द्वार है और जहां जल भरी नदियां निरंतर बहती रहती हैं उसी लोक में हमारा वास हो।[2] इसी प्रकार यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है। इस प्रार्थना में उस युग के अनुरूप आदर्श राष्ट्र के लक्षण स्पष्ट किये गये हैं। यह प्रार्थना इस प्रकार है—हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों, धनुर्विद्या में कुशल शूरवीर दुष्टों का प्रतिबंधन करने वाले एवं महारथी राजन्य उत्पन्न हों, दूध देने वाली गौएँ भार वहन करने में समर्थ वृषभ तथा द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हों, सर्वगुण सम्पन्न महिलाएं हों, रथयानों से सम्पन्न, सभ्य युवक और वीर पुत्र उत्पन्न हों, इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें, राष्ट्र में अन्न से परिपूरित सस्य उत्पन्न हों और हमारे राष्ट्र में सदैव योग-क्षेम बना रहे।[4]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि राष्ट्र में उन सभी पदार्थों एवं प्राणियों के उत्पादन की सामर्थ्य होनी चाहिए जिससे राष्ट्र वासियों का सम्यक् भरण-पोषण होता है उनका निरंतर सम्यक विकास होता है और वे सम्यक प्रकार से सुरक्षित बने रहते

१ ११।११३।९ ऋग्वेद। २ ७।११३।९ ऋग्वेद। ३ ८।११३।९ ऋग्वेद।
४ २२।२२ यजुर्वेद।

हैं। इन प्रसगा म वदिक श्राय राज्य के श्रादश राष्ट्र के विशेप लक्षणा का सक्षिप्त परिचय हो जाता है और उसके आधार पर वदिक राज्य के चौथे तत्व अर्थात राष्ट्र (भूभाग) के स्वरूप की स्थापना ज्ञात हो जाती है।

इस प्रकार वदिक सहिता कालीन राजनीतिक विचार धारा के अनुसार राज्य के चार तत्व माने गये है जो ब्रह्म, क्षत्र विश और राष्ट्र हैं। ब्राह्मण ब्रह्म का और राजय क्षत्र का प्रतीक माना गया है। ब्रह्म परमाधिकारी अथवा प्रभुतासम्पन्न बतलाया गया है।[1]

उत्तर वैदिक काल मे राज्य के तत्व

समय व्यतीत होने के साथ साथ वदिक सहिता कालीन आय राज्य के तत्वा के स्वरूप म भी समयानुकूल परिवतन होना स्वाभाविक था। उत्तर वदिक काल म आय राज्य के तत्वा के स्वरूप म जो परिवतन हुए हैं वदिक साहित्य में उनकी ओर सकेत किये गये हैं। परन्तु इस विषय में सबसे अधिक स्पष्ट सकेत बृहदारण्यक उपनिषद के एक प्रसग म आज भी उपलब्ध है। इसलिए इन्ही सकेतो का आश्रय लेकर उत्तर वदिक कालिक राज्य के तत्वो के स्वरूप की रूपरेखा खीचने का प्रयास किया जायगा।

धम——बृहदारण्यकोपनिषद के इस प्रसग से ज्ञात होता है कि उस युग मे ब्रह्म न व्यापक रूप धारण कर लिया था और इसीलिए वह राज्य के तत्व की सीमा मात्र म ही आवद्ध न रहा और इस प्रकार वह पूववत राज्य का तत्त्व न रह सका। उस युग म यह अनुभव किया गया कि ब्रह्म व्यापक है ब्रह्म को राज्य का एक तत्व मानने म अनक कठिनायियाँ उपस्थित होगी। यही कारण था कि चारा वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र) की सष्टि कर देने के उपरान्त भी ब्रह्म इस लोक म विभूति युक्त काय न कर सका (स नव व्यभवत)। इसलिए उसने धम का सजन किया और उसे परमतत्व का अधिकार प्रदान किया। उसने धम को क्षत्र का भी क्षत्र (क्षत्रस्य क्षत्रम) बनाया। धम की उत्पत्ति के विषय म बृहदारण्यकोपनिषद मे जो आख्यान दिया हुआ है वह इस प्रकार है— वह (ब्रह्म) क्षत्रिय विश और शूद्र रूप पूषा का सजन कर लेने के उपरान्त भी विभूतियुक्त काय करने म समथ न हो सका। उसने अनुभव किया कि क्षत्र का स्वभाव उग्र होता है। इसलिए क्षत्र को नियत्रण म रखने की आवश्यकता

१ ८।५०।४ ऋग्वेद।

है। ऐसा समझकर उसने अतिशयता से श्रेयो रूप का सृजन किया। यह श्रेयो रूप धर्म कहलाया। यह धर्म क्षत्र का भी क्षत्र है (तदेतत क्षत्रस्य क्षत्रम) अर्थात् क्षत्र का भी नियन्ता है और उससे भी अधिक उग्र है।[1] क्षत्र का भी नियन्ता होने के कारण धर्म से उत्कृष्ट और कोई नहीं रहा क्योंकि क्षत्र के द्वारा सभी का नियमन होता है और धर्म ऐसे क्षत्र का भी नियमन करता है। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद के इस आख्यान के अनुसार धर्म परम नियामक है। उसका नियामक अन्य कोई नहीं है। इस दृष्टि से धर्म में प्रभुता निवास करती है धर्म ही प्रभु (Sovereign) है। इस आधार पर यह निर्विवाद है कि उत्तर वैदिक काल में राज्य के एक तत्व—प्रभुता (Sovereingty) का उदय धर्म के रूप में हुआ था।

बृहदारण्यकोपनिषद के इस प्रसंग में धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रसंग में बतलाया गया है कि सत्य ही धर्म है। इस पृथिवी तल पर जो सत्य है वही धर्म है और जो अनृत है वही अधर्म है। इस उपनिषद में इसीलिए सत्य वचन को धर्म-वचन और सत्यवादी को धर्मवादी माना गया है। सत्यवादी और धर्मवादी में अन्तर नहीं है। वे दोनों एक ही है।[2] अन्तर केवल इतना है कि सत्य का व्यावहारिक रूप धर्म है अर्थात सत्य व्यवहार ही धर्म है। इसलिए क्षत्र इसी सत्य के व्यवहाररूप के नियन्त्रण में रहे, ऐसा बृहदारण्यकोपनिषत्कार का मत है। लोक कल्याण हेतु सत्यनिष्ठ ऋषि-मुनियों द्वारा सदाचार की स्थापना के लिए जो नियम अथवा विधान समय-समय पर निर्माण किये गये हैं उन्हीं के अनुसार आचरण करना धर्म है। इसलिए इन्हीं नियमों अथवा विधानों के अधीन रहकर क्षत्र लोक-कल्याण में संलग्न रहे। इन आचार नियमों अथवा विधियों के उल्लंघन करने का अधिकारी क्षत्र नहीं है। ये आचार नियम अथवा विधि राज्य में प्रभु (Sovereing) हैं।

क्षत्र—बृहदारण्यकोपनिषद में जहाँ धर्म की उत्पत्ति का उल्लेख है उसी प्रसंग में क्षत्र की उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में क्षत्र की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं— आदि काल में (अग्रे) अकेला ब्रह्म ही था। अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूति युक्त कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए उसने श्रेय रूप क्षत्र का सृजन किया अर्थात् देवों में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु, ईशानादि को जो क्षत्रिय हैं, उत्पन्न किया। इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण

1. १।४।१४ बृहदारण्यकोपनिषद। 2. १।४।१४ बृहदारण्यकोपनिषद्।

नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। ब्रह्म ने क्षत्र को अतिशय रूप से रचा है। इसलिए क्षत्रिय से उत्कृष्ट ब्राह्मण का भी नियमन करने वाला अन्य दूसरा कोई नहीं है। इस कारण क्षत्र का योनि (जन्म का कारण) होने पर भी राजसूय यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण नीचे बैठकर ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित क्षत्रिय की उपासना करता है। जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण की हिंसा करता है वह अपनी योनि का ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ की हिंसा करने से पुरुष पापी हो जाता है उसी प्रकार ब्राह्मण हिंसक क्षत्रिय पापी होता है।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद में जो ये विचार व्यक्त किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि लोक पर शासन करने के लिए ब्रह्म ने क्षत्रिय का सृजन किया और उसे लोक का अधिपति बनाया। इस प्रकार आर्य राज्य में क्षत्रिय ही शासक है। दूसरे शब्दों में क्षत्रिय ही राज्य की सरकार अथवा राज्य में राजनीतिक एकता है। इस सरकार में राजा का प्रमुख स्थान होता है जिसे वह राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों का सम्पादन कर लेने के उपरान्त विधिवत प्राप्त करता है। राजा इस सरकार में सर्वोच्च अधिकारी है और वह कार्यपालिका का प्रधान है। उसे परमोच्चता अथवा प्रभुता (Sovereignty) धारण करने का अधिकार नहीं है। परमोच्चता अथवा प्रभुता एक मात्र धर्म में वास करती है। वही उसके धारण करने का वह अधिकारी है। धर्म के नियंत्रण में रहकर उसे शासन करने का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में राज्य का एक तत्व क्षत्रिय माना गया है और जो राज्य की सरकार के रूप में शासन करने का अधिकारी बतलाया गया है। वह अपने अधीन प्राणियों पर उसी प्रकार शासन करने का अधिकारी है जिस प्रकार कि इन्द्र देवों पर, वरुण जलचरों पर, सोम ब्राह्मणों पर, रुद्र पशुओं पर, मेघ विद्युत आदि पर, यम पितरों पर, मृत्यु रोगादि पर और ईशान प्रकाशों पर शासन करने के अधिकारी हैं।

विश—उत्तर वैदिक काल में भी आर्य राज्य का तत्व विश माना गया है। विश के अभाव में लोक का कार्य न चल सका। इसलिए ब्रह्म ने विश के सृजन की आवश्यकता अनुभव की। क्षत्रिय शासक है। परन्तु वह किस पर शासन करे यह समस्या बनी ही रही। इसलिए विश की उत्पत्ति की गयी। ब्रह्म ने प्राणियों के भरण-पोषण हेतु विश्

१ ११।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद।

को बनाया और उस यह कार्यभार सौंपा गया। विश की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद के विचार इस प्रकार हैं—'क्षत्रिय की उत्पत्ति हो जाने पर भी ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए उसने विश (वैश्य वर्ण) का सृजन किया। जो वसु, रुद्र, आदित्य विश्वेदेव, मरुत आदि देवजात गणश (गण अथवा संघबद्ध होकर जीवन व्यतीत करने वाले) हैं उन्हें उत्पन्न किया।'[1] विश् ही आगे राज्य में जनता माने गये हैं।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में राज्य के इस (विश) तत्व का स्वरूप लगभग वही बना रहा जो कि वैदिक संहिताओं के युग में निर्धारित किया गया था।

पूषा—बृहदारण्यकोपनिषद के इस प्रसंग में पूषा की उत्पत्ति के विषय में जो आख्यान दिया गया है उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में राज्य का एक तत्व पूषा माना गया था। इस प्रकार वैदिक संहिता कालीन राष्ट्र नाम के राज्य के तत्व को उत्तर वैदिक काल में 'पूषा' की संज्ञा देकर उस राज्य के तत्वों में स्थान दिया गया। शतपथ ब्राह्मण में पूषा को स्पष्ट करते हुए इस शब्द की व्याख्या में बतलाया गया है कि यह पृथिवी ही पूषा है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद के पूषा शब्द की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक आदि शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि पोषण करने की सामर्थ्य जिसमें हो वह पूषा है। पृथिवी ही प्राणिमात्र का पोषण करती है। इसलिए पृथिवी ही पूषा है।[3] क्षत्रिय और विश (वैश्य) का सृजन हो जाने पर ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में असमर्थ रहा। इसलिए उसने पूषा का सृजन किया। अर्थात उसने शौद्र वर्ण का सृजन किया। पूषा शौद्र वर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है क्योंकि जो कुछ भी है यही उसका पोषण करती है।[4]

इस प्रकार इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया कि पोषण करने की सामर्थ्य रखने वाला भूभाग पूषा है और वही उत्तर वैदिक आर्य राज्य का एक तत्व है। इस विचारधारा के अनुसार वही भूभाग राज्य का तत्व माना गया है जिसमें उस भूभाग के सभी निवासियों के भरण-पोषण की सामर्थ्य हो। इस दृष्टि से अपने निवासियों के भरण-पोषण हेतु समस्त सामग्री को अपने गर्भ में धारण न करने वाले भूभाग को राज्य

१ १।४।११ बृहदारण्यकोपनिषद्। २ ७।४।५।२ शतपथ ब्राह्मण।
३ १।३।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद। ४ १।३।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद।

अध्याय ६

राजा

राजा की आवश्यकता

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसकी ऋचाओं के निर्माण काल में वैदिक ऋषियों ने अपनी समकालिक आर्य जनता के कल्याण हेतु राजा की आवश्यकता अनुभव कर ली थी। उन्होंने भली भाँति समझ लिया था कि आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को जीवित रखने और उनके विकास तथा प्रसार के लिए उनका राजा होना और उनके इस महान कार्य में उसका सहयोग प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। वैदिक साहित्य में, जहां कहीं भी, राजा अथवा उसके पद का उल्लेख है उसके प्रति महान आदर-सम्मान प्रदर्शित किया गया है और उसकी आवश्यकता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त की गयी है।[1]

शत्रु पर विजय प्राप्त करना, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना करना और उसे स्थायी बनाना, राज्य के निवासियों को भयमुक्त रखना, राष्ट्र के सर्वांग विकास एवं समृद्धि के साधन जुटाये रखना आदि कुछ ऐसे महान् कार्य थे जिनका विधिवत् सम्पादन राजा के सहयोग के बिना असम्भव समझा गया था। इसीलिए वेदों में राजा राज्य का जन्मस्थान और उसका केन्द्र बतलाया गया है।

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त

विश्व के इतिहास में वैदिक राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिए विख्यात है। उसका निजी अस्तित्व है तथा उसकी अपनी विलक्षणता है। अन्य जातियों ने जिस रूप में राजपद का स्वरूप निश्चित किया है और तदनुसार जो उसकी स्थापना की है उसमें और वैदिक राजपद के स्वरूप में विशेष अन्तर है। इस अन्तर के अनुसार वैदिक राजा की नियुक्ति के सिद्धान्तों में भी अपेक्षाकृत अन्तर है। इसलिए वैदिक राजा की

१ १।२० यजुर्वेद।

रयुक्ति के इन सिद्धान्तो का परिचय इस प्रसग म दे देना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय म दिया जायगा।

(क) राजपद पर वर्ग विशेष का अधिकार

ऋग्वेदीय समाज का निर्माण कार्य विभाजन सिद्धान्त पर आधृत है। कार्य विभाजन की यह योजना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में दी गयी है। इस योजना के अनुसार सम्पूर्ण समाज की, समाज में शांति एवं व्यवस्था की सम्यक स्थापना, दुष्ट-दलन आदि के कार्यभार का दायित्व समाज के एक विशेष वर्ग पर निर्धारित किया गया है। समाज के इस वर्ग को ऋग्वेद म राजन्य नाम से सम्बोधित किया गया है। राजन्य की उत्पत्ति विराट पुरुष की बाहुओं से बतलायी गयी है।[1] राजन्य वर्ग म किस श्रेणी के लोगों को स्थान दिया जाना चाहिए इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण में कुछ प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार आर्यों का वह वर्ग राजन्य है जिसमें क्षात्र बल का प्राधान्य हो और जो युद्ध में शौर्य प्रदर्शन करने की सामर्थ्य रखता हो। इस सिद्धान्त के अनुसार राजन्य मात्र राजपद प्राप्ति का अधिकारी था। राजन्य क्षात्र बलधारी पुरुष था। इस दृष्टि से वैदिक आर्यों में केवल क्षत्रिय राज्याधिकारी था। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र राजपद के अधिकारी न थे। वैदिक आर्यों ने इस सिद्धान्त को अपने राजनीतिक जीवन में यथासम्भव कार्यान्वित भी किया था। इस तथ्य की पुष्टि वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र की गयी है।

राजन्य के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति का राज्याभिषेक किया जाय, वेदों में इसका निषेध किया गया है। राज्याभिषेक से सम्बन्धित वैदिक मंत्र एवं तत्सम्बन्धी कृत्यों की जो प्रक्रिया वैदिक साहित्य में हमें उपलब्ध है वह केवल राजन्य के लिए उपयोग में लाने के लिए है। अन्य पुरुषों के लिए उसका प्रयोग एवं उपयोग विधिविरुद्ध तथा अमान्य बतलाया गया है। वैदिक युग के समाप्त हो जाने के उपरान्त समय प्रवाह के साथ-साथ इस विचारधारा में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी। इसका कारण यह था कि वैदिक युग के समाप्त हो जाने के बहुत पश्चात क्षत्रिय से इतर कतिपय प्रतापी एवं विक्रमसम्पन्न पुरुष भी राजा होने लगे थे। राजपद पर वैध रूप से आसीन होने के लिए क्षत्रिय से इतर इन पुरुषों का भी राज्याभिषेक होना अनिवार्य था। परन्तु वैदिक मंत्रों एवं वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष का राज्या-

१ १०।९०।१० ऋग्वेद। २ १०।२।६।१३, ६।५।१।१३ शतपथ ब्राह्मण।

भिषेक किया नही जा सकता था। यदि क्षत्रिय से इतर किसी पुरुष का राज्याभिषेक किया भी जाता तो वह विधिसम्मत नही माना जाता। लोक की दृष्टि म इस प्रकार किया गया राज्याभिषेक अमान्य होता। इसलिए राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति के स्थान म एक नवीन पद्धति के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गयी जिस के द्वारा क्षत्रिय से इतर पुरुषो का भी राज्याभिषेक नियमानुसार किया जा सकता था और इस विधि स किया गया राज्याभिषेक लोक की दृष्टि म मान्य एव विधिसम्मत था। इस आवश्यकता की पूर्ति वैदिक युग के बहुत पश्चात राज्याभिषेक की पौराणिक तथा *प्रमभक्त पद्धतियों के निर्माण स कर दी गयी। इन पद्धतियों को समय परिवर्तन को देखत* हुए लोक ने स्वीकार कर लिया। इतिहास म एस अनेक राजाओ का उल्लेख है जिनके राज्याभिषेक इन्ही नवीन पद्धतियों द्वारा हुए थ और जिन्हें विधिसम्मत समझा गया था।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसग म एक ऐसी घटना का उल्लेख है जो इस सिद्धात की पुष्टि का ज्वलन्त प्रमाण है कि वैदिक युग म केवल राजन्य (क्षत्रिय) को ही राज्याधिकार प्राप्त था। शतपथ ब्राह्मण म वर्णित यह घटना यह सिद्ध करती है कि वैदिक आर्य राज्याभिषेक के इस सिद्धात का पालन कठोरता स करत थे। यह घटना इस प्रकार है—एक पुरुष जिसकी माता वैश्य वर्ण की थी राजपद प्राप्त करना चाहता था। परन्तु उसके राज्याभिषेक का निषेध केवल इस आधार पर कर दिया गया कि उसकी माता राजन्य वश की नही थी अपितु वह वैश्य वर्ण के परिवार मे उत्पन्न हुई थी। इसलिए वह राजपद पाने का वैध अधिकारी नही था।[1] उपयुक्त वर्णन म स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राज्यो म राजपद प्राप्ति का अधिकार क्षत्रिय वर्ण तक ही सीमित था। क्षत्रिय वर्ण म उत्पन्न हुए पुरुष का ही राज्याभिषेक विधि-सम्मत समझा जाता था। अन्य वर्ण के पुरुष का राज्याभिषेक विधि विरुद्ध माना जाता था। अन्य वर्ण राजपद के अधिकारी न थे। इस दृष्टि से वैदिक युग म आर्य राज्यो म राजपद अपने समकालिक अन्य जातियो के राजपदो की अपेक्षा विशेषतापूर्ण था। इस प्रकार वैदिक राजा की नियुक्ति का सर्वप्रथम सिद्धात यह था कि राजपद का वैध अधिकारी क्षत्रिय मात्र है।

(ख) ब्रह्मनियन्त्रित राजपद

वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार आर्य राज्यो म वैश्य वर्ण मात्र प्रजा

१ तस्माद्वैश्यापुत्र नाभिषिचन्ति। ८।१।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।

की श्रेणा मे परिगणित किया गया है। यही कारण है कि वेदा म प्रजा को विश् की संज्ञा दी गयी है। प्रजा राजा के लिए नमन करे अथवा नमन करती है—वेदा मे यह व्यवस्था जहा कही भी दी गयी है प्रजा को 'विश' कहकर सम्बोधित किया गया है। वदिक आय राज्य का सम्पूर्ण आर्थिक भार विश पर ही निभर था। सम्पत्ति का उत्पादन, उसकी वृद्धि और उसको भोग योग्य बनाना आदि विश का ही एक मात्र कत्तव्य माना गया था।

वदिक आय राज्या म प्रभुता ब्रह्म मे वास करती थी। इसलिए ब्रह्म वध रूप म प्रभुता सम्पन्न समझा जाता था। वही राज्य का वध अधिकारी था। ब्रह्म का प्रतीक ब्राह्मण था। इस प्रकार वदिक राजनीतिक विचारधारा क अनुसार ब्राह्मण म राज्य की प्रभुता थी। प्रभुता के इस सिद्धान्त की पुष्टि मनु ने भी दूसरे श दा म की है। मनु ने मानवधमशास्त्र म स्पष्ट व्यवस्था दी है—जो कुछ भी इस जगत म ह वह सब ब्राह्मण का ही है। ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता क कारण ब्राह्मण सब कुछ ग्रहण करन का अधिकारी है।[1] वेदा म यह स्पष्ट कहा गया है कि वध प्रभुता ब्राह्मण म ही वास करती है। परन्तु ब्राह्मण राज्य क सुशासन हेतु अपन इस अधिकार को सुयोग्य क्षत्रिय का सौप देता था, और उस स्पष्ट आदेश दे देता था कि वह यह पथिवी (राज्य) उस इस प्रतिबन्ध के साथ द रहा है कि वह इसम सुशासन की स्थापना करगा और राज्य के निवासिया को भयमुक्त रखेगा। यदि वह अपन इस कत्तव्य पालन म लश मात्र भी असावधानी बरतेगा अथवा प्रमाद करेगा, उसस वह राज्य छीन लिया जायगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि अथववेद म इस प्रकार की गयी है—इस पथिवी का पति एक मात्र ब्राह्मण है। क्षत्रिय तथा वश्य इसका अधिकारी अथवा स्वामी नहा है।[2] ब्राह्मण न अपनी यह पथिवी (राज्य) क्षत्रिय को इसका रक्षा एव इसक सर्वांग विकास हतु प्रदान की है। परन्तु वह क्षत्रिय इस पृथिवी का भक्षण कदापि न कर। क्षत्रिय द्वारा पथिवी के भक्षण करन का निषेध अथववद ने इस प्रकार किया है—ह राजन! ब्राह्मणा न यह पथिवी तुझे इसका भोग करन क लिए नही दी है। ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त इस पथिवी की हिंसा न करना।[3]

महाभारत मे भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। महाभारतकार के मता-

१ १००।१ मानवधमशास्त्र। २ ५।१।५ अथववेद।
३ १।१८।५ अथववेद।

नुसार पृथिवी पर जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मणों का है, क्योंकि वे ब्रह्मा के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र हैं।[1] इसलिए राज्याधिकार उन्हीं को प्राप्त है। परन्तु वे धार्मिक कृत्यों और ज्ञानोपार्जन में इतने व्यस्त रहते हैं कि राज्य का सचालन नहीं कर सकते। इसलिए वे इस कार्यभार को अपने श्रेष्ठ एवं छोटे भाई को सौंप देते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय अथवा हिन्दू समाज में वह वर्ग जो वीरता के लिए वंशपरम्परा में प्रसिद्ध है राज्य का वास्तविक शासक (ब्राह्मण की देख रेख एवं उनके सरक्षण में) बन जाता है। ब्राह्मण पुरोहित तथा मंत्री के रूप में उसके समीप रहकर उसे निरन्तर सचेत एवं सावधान करते हुए उसका पथ प्रदर्शक बनकर कार्य करता रहता है।

इस प्रकार वैदिक सहिताओं के अनुसार राजपद का निर्माण लोक में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना, उसकी सम्यक् रक्षा और उसके सर्वांग विकास हेतु किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा राज्य का स्वामी नहीं है। राज्य का वैध स्वामी ब्राह्मण है। ब्राह्मण अपनी इस निधि (राज्य) को उसकी सम्यक् रक्षा एवं उसके सर्वांग सम्यक् विकास हेतु क्षत्रिय को सौंप देता है और इस प्रकार वह क्षत्रिय राजा बन जाता है। परन्तु यदि क्षत्रिय (राजा) अपने इस कर्त्तव्य-पालन में लेशमात्र भी उपेक्षा अथवा प्रमाद करता है तो ऐसी दशा में वह राजपद धारण करने के अपने अधिकार से वंचित हो जाता है और उसे उस राजपद से तुरन्त पदच्युत कर देना चाहिए। इस प्रकार वैदिक युग में ब्राह्मण प्रभुतासम्पन्न था। उसी में राज्य की प्रभुता वास करती थी। ब्राह्मण राजकर्ता था और अपने उस वैध अधिकार द्वारा प्रस्तावित राजा की नियुक्ति करता था राजा की नियुक्ति के अवसर पर वह (ब्राह्मण) वैध रूप में राजा के प्रधान न होने की घोषणा करता था। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर एकत्र जनसमूह के समक्ष ब्राह्मण पुरोहित स्पष्ट एवं उच्च स्वर में जो घोषणा करता था उस का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—सद्योऽभिषिक्त यह क्षत्रिय प्रजा (विश) का राजा हुआ। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।[2]

इस प्रकार वैदिक राजपद ब्रह्मनियंत्रित था। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मण राजाओं की अवहेलना करने का अधिकारी था और इसलिए वह राजा द्वारा स्थापित प्रशासन व्यवस्था के बाहर था। ब्राह्मण उसी दशा में राजाओं की अवहेलना करने का अधिकारी था जब कि राजा उन प्रणों एवं प्रतिज्ञाओं को भंग

१ १२।६६ शान्तिपर्व पी० पी० शास्त्री द्वारा सकलित। २ ४०।९ यजुर्वेद।

करता हो जिनके अनुसार ब्राह्मण की निधि रूप में राज्य उसे सौंपा गया था। अर्थात वह विधिविरुद्ध शासन करना प्रारम्भ कर देता हो और इस प्रकार अपने पद का दुरुपयोग करता हो। ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर ब्राह्मण अपने इस विशेषाधिकार के उपयोग करने का अधिकारी हो जाता था और अपने इस विशेषाधिकार का उपयोग कर विधिविरुद्ध शासन करने वाले राजा को पदच्युत कर देता था और उसके स्थान पर अन्य सुयोग्य क्षत्रिय का राज्याभिषेक कर उस राजपद पर आसीन कर देता था। ब्राह्मण द्वारा किया गया यह कार्य सर्वांश में वैध समझा जाता था।

ब्राह्मण और राजन्य के इस सम्बन्ध की भूरि भूरि प्रशंसा वैदिक साहित्य में की गयी है। यजुर्वेद में ब्राह्मण और राजन्य के इस सम्बन्ध की प्रशंसा करते हुए एक प्रसंग में इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जहाँ ब्राह्म बल तथा क्षात्र बल परस्पर सहयोग से एक दूसरे के सहायक बनकर विचरते हैं तथा ब्राह्मण अग्रनायक (राजा) के साथ सहयोग करते हैं, उस लोक (राज्य) को पुण्यवान (सर्वसुख सम्पन्न) समझता हूँ।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक राजपद ब्रह्मनियंत्रित था और ब्राह्मण के भय एवं उसके प्रभाव के कारण क्षत्रिय (राजा) अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहता था। इस योजना का निर्माण लोक कल्याण की दृष्टि से किया गया था।

मध्यकालिक यूरोप में भी ईसाई राज्यों में राजपद पोप के नियंत्रण में (Under the Control of the Church) कर दिया गया था और राजा पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता था। इस प्रकार इन राज्यों में भी पोप नियन्त्रित राजपद के सिद्धान्त का आयोजन किया गया था और इस सिद्धान्त का पालन भी यथासम्भव कुछ समय तक किया जाता रहा। परन्तु उनकी यह योजना ब्रह्म नियन्त्रित राजपद की वैदिक योजना से नितान्त भिन्न थी। पोप नियन्त्रित राजपद का उद्देश्य ईसाई धर्म प्रचार एवं धर्मप्रधान राज्य (Theocratic State) का निर्माण करना था। परन्तु वैदिक योजना में यह बात न थी। राजपद की वैदिक योजना का उद्देश्य सुशासन की स्थापना करना था। वैदिक योजना के अनुसार राजा की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया गया था जिसमें राजा अपने अधिकारों एवं पद के दुरुपयोग करने से वंचित रखा जा सके। इस वैदिक योजना के अन्तर्गत यह व्यवस्था

१ २५।२० यजुर्वेद।

कर दी गयी थी कि राज्य राजा की निजी सम्पत्ति कदापि न समझा जाय, और इस प्रकार वह राज्य के भोग करने के अधिकार से वंचित रखा गया था। राज्य उसके अधीन ब्राह्मण की निधि मात्र था जिसकी सम्यक् रक्षा, सुव्यवस्था और जिसका सम्यक् विकास एवं सम्यक् वृद्धि करना मात्र उसका कर्त्तव्य था और यही उसका अधिकार भी था। इससे अधिक नहीं।

इस प्रकार ब्रह्म नियन्त्रित राजपद का सिद्धान्त वैदिक ऋषियों की विशेष एवं अनुपम योजना थी। इस सिद्धान्त के अनुसार वही क्षत्रिय राजपद पाने का अधिकारी था जो इस योजना के अनुसार आचरण करने में समर्थ था।

(ग) वरणशील राजपद सिद्धान्त

वैदिक राजपद का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण उसका वरणशील स्वरूप होना था। वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें राजा के वरण करने के निमित्त प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद में प्रसंगवश यत्र-तत्र कतिपय मंत्रों में इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु स्पष्ट संकेत प्राप्त हैं। इन संकेतों में कुछ इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद के एक मंत्र में राजा के वरण करने के निमित्त व्यवस्था दी गयी है। इस प्रसंग में बतलाया गया है कि भय से त्रस्त लोग अपने भय से मुक्त होने के लिए राजा का वरण करते हैं।[1] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक मंत्र में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए व्यवस्था दी गयी है—हे प्रस्तावित राजन! राष्ट्रवासी (विश) तेरी कामना करते हैं। तू अचल होकर राजपद पर आसीन रहे। तू इस पद से भ्रष्ट न हो।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय आर्य राज्यों में राजपद का स्वरूप वरणशील था।

यजुर्वेद में भी कतिपय ऐसे मंत्र हैं जिनमें राजा का वरण किया जाना चाहिए इस सिद्धान्त की पुष्टि की ओर संकेत किये गये हैं। यजुर्वेद में राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों का उल्लेख कई स्थलों पर प्राप्त है। राज्याभिषेक सम्बन्धी इन कृत्यों में एक कृत्य यह भी बतलाया गया है कि राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन-समारोह के समक्ष पुरोहित द्वारा स्पष्ट एवं उच्च स्वर में घोषणा करने की व्यवस्था हो। इस घोषणा द्वारा पुरोहित घोषित करता था कि अमुक क्षत्रिय राष्ट्र का राजा बनाया गया। इस घोषणा का एक अंश यह भी होता था कि उक्त क्षत्रिय को राजपद पर

१ १४।२३।१ ऋग्वेद। २ १।१७३।१० ऋग्वेद।

आसीन करने के लिए राष्ट्रवासियों के विविध वर्ग के लोगों की अनुमति प्राप्त की जा चुकी है। यजुर्वेद के एक प्रसंग में इस घोषणा का स्वरूप इस प्रकार है—हे भावी राजन्! मैं (पुरोहित) जल और औषधियों से तेरा अभिषेक कर रहा हूँ। तेरी माता, तेरा पिता, तेरे सहोदर भाई, तेरे मित्र गण और तेरे वृन्द के लोग इस कार्य का अनुमोदन करते हैं।[1] यजुर्वेद के इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भावी राजा की नियुक्ति में उसके माता पिता, सहोदर भाई, उसके सखा तथा राष्ट्रवासियों के विविध वर्गों के लोगों की अनुमति होनी चाहिए। इसी प्रकार यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में इन्द्र-पद (राजपद) पर आसीन होने के लिए राष्ट्रवासियों की अनुमति होनी चाहिए इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। इस से ज्ञात होता है कि इन्द्रपद पर आसीन होने के लिए राष्ट्रवासियों की ओर से पुरोहित द्वारा अनुमति देने की व्यवस्था थी। इस विषय में यजुर्वेद में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—राष्ट्रवासियों द्वारा वरण किये गये तुम्हें प्रीतियुक्त को इन्द्र-पद के लिए ग्रहण करता हूँ।[2]

संहिता कालिक राजपद का स्वरूप वरणशील था इस सिद्धान्त की पुष्टि अथर्ववेद में कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में की गयी है। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में एक स्थल पर स्पष्ट बतलाया गया है कि समिति द्वारा राजा की नियुक्ति की जाती है।[3] अथर्ववेद के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वैदिक राजा का वरण राष्ट्रवासियों की अनुमति पर निर्भर था। ऋग्वेद में वर्णित इस सिद्धान्त को कि राजा का वरण राष्ट्रवासियों द्वारा किया जाना चाहिए अथर्ववेद में लगभग उन्हीं भावों को पुनः व्यक्त करते हुए दुहराया गया है—सम्पूर्ण प्रजा तेरी कामना करे (करती है)! तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[4] इसी प्रसंग में यह भी प्रार्थना की गयी है कि सम्पूर्ण राज्य के संचालन हेतु हम भावी राजा का वरण करें (करते हैं)।[5] अथर्ववेद के एक अन्य स्थल पर इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—सभी को कम्पित कर देने वाले (भयभीत कर देने वाले) क्षत्रिय को मनुष्य उसी प्रकार अपना राजा बना लेते हैं जिस प्रकार तारा गण चन्द्रमा को अपना राजा बनाते हैं।[6]

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं के अनुसार राजपद वरणशील (Elective) समझा जाता था। राजपद रिक्त होने पर उस पद

१ ९।६ यजुर्वेद। २ २।९ यजुर्वेद। ३ ३।८८।६ अथर्ववेद।
४ ३।८७।६ अथर्ववेद। ५ २।८७।६ अथर्ववेद। ६ १।१२८।६ अथर्ववेद।

के यथार्थ संकल्प से है।[1] इसका अर्थ यह है कि राज्य के अधिकारियों के मानसिक संकल्प सत्य पर आधारित होने चाहिए। इसका तात्पर्य यह भी है कि राजा में अपने अधीन राज्य के अन्दर ऐसी व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए जिससे ऐसे नियमों एवं विधियों का पालन अपने अधीन प्रजा से कराने में वह समर्थ हो सके जिनकी उत्पत्ति सत्य संकल्पों से हुई है। वे सत्य संकल्प अचल एवं अडिग होने चाहिए। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार राजा में दृढ़ सत्य संकल्प (ऋतमुग्रम्) उत्पन्न होने की क्षमता एवं सामर्थ्य होना चाहिए। राजा में तीसरा गुण दीक्षा बतलाया गया है। राजा प्रजा के शासन हेतु दीक्षित होना चाहिए। उसे स्वयं प्रत्येक प्रकार की उन समस्त सामग्री अथवा उन सभी साधनों से सुसज्जित रहना चाहिए जो सामग्री एवं साधन उसके कार्य्य पालन हेतु वांछनीय होते हैं। चौथा गुण तप बतलाया गया है। तप का तात्पर्य संयमी जीवन व्यतीत करने से है। अर्थात् राजा का जीवन संयमी होना चाहिए उसका आचरण एवं व्यवहार नियमबद्ध होना चाहिए। राजा के लिए पाँचवाँ गुण ब्रह्म बतलाया गया है। ब्रह्म वैदिक भाषा का एक विशेष शब्द है जिसको लौकिक भाषा में विद्या (Learning) कहते हैं। भावार्थ यह है कि वैदिक राजा के लिए विद्या अथवा ज्ञान की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके अनुसार राजा विद्वान् एवं ज्ञानी होना चाहिए। अविद्वान् तथा अज्ञानी क्षत्रिय राजपद प्राप्ति हेतु अयोग्य है। राजा के लिए अथर्ववेद के अनुसार अंतिम गुण यज्ञ बतलाया गया है। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ की संज्ञा दी जाती है।[2] इसलिए राजा श्रेष्ठ कर्म करने वाला क्षत्रिय होना चाहिए।

इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार वैदिक राजा के अनिवार्य गुण व्यापक सत्य (बृहत् सत्य) दृढ़ संकल्प (ऋतमुग्रम्) दीक्षा, तप विद्या तथा ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति हैं।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राजा के लिए वांछनीय गुण प्रशासनिक दक्षता एवं योग्यता बल पौरुष अदम्य साहस आदि तथा उसके व्यवहार एवं आचरण में सत्यता, दृढ़ता एवं स्थायी सत्य संकल्प,

१ ऋतम मनसा यथार्थ सङ्कल्पनम्। २ यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म इति श्रुतिः। महीधर यजुर्वेद भाष्य, मंत्र १ अ० १।

दीक्षा, तप, विद्या एव ज्ञान (ब्रह्म) और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति हैं। राजा इन्ही सब गुणो को धारण करने पर राज्य के सम्यक सचालन मे सफल होगा ऐसा वेदमत है।

(ड) राज्याभिषेक सिद्धान्त

वैदिक आर्य राज्यो मे राजपद प्राप्ति हेतु एक और महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध था। वह प्रतिबन्ध प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के रूप म था। इसके अनुसार राजपद-प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा का राज्याभिषिक्त होना अनिवार्य कृत्य था। वैदिक आर्यों की दृष्टि म अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एव अवध होता था।[1] अनभिषिक्त राजा आर्य राज्यो म राजपद धारण करने का अधिकारी न था। इसलिए राजपद पर आसीन होने के पूर्व राजपद के लिए वरण किये गये क्षत्रिय को अपना राज्याभिषेक विधिवत एव नियमानुसार करा लेना अनिवार्य था। राज्याभिषेक हो जाने पर साधारण क्षत्रिय भी श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है ऐसा वेदमत है। इन्द्र देवो म छोटा और सामान्य देव था। परन्तु राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही देवो मे श्रेष्ठ एव ज्येष्ठ बन गया और उन का राजा (देवराज) बनकर सभी देवो पर शासन करने लगा। शतपथ ब्राह्मण म भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का आधार है। उसम स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का कारण होता है।[2] शतपथ ब्राह्मण म दी गयी इस व्यवस्था का तात्पर्य यह है कि सभी क्षत्रिय (राजन्य) सामान्यत समान होते हैं। परन्तु राजपद के लिए जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो जाता है वही राजा बन जाता है और लोक पर शासन करने का वैध अधिकारी हो जाता है।

यजुर्वेद वैदिक कर्मकाण्डप्रधान वेद माना जाता है। इस वेद मे विविध प्रकार के यज्ञो का उल्लेख एव उनके कृत्यो का सविस्तार वर्णन दिया हुआ है। इन यज्ञो मे राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ भी है। उसम राज्याभिषेक सम्बन्धी प्रक्रिया एव तत्सम्बन्धी कृत्यो का भी उल्लेख है। राज्याभिषेक के अवसर पर विधिवत वरण किये गये ब्राह्मण पुरोहित को आर्य जनता के विविध वर्गों के प्रतिनिधियो के समक्ष राज्याभिलाषी क्षत्रिय से उसके राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यो को विधिवत सम्पन्न कराने और तदुपरान्त

१ १, २।१०।२।२ तैत्तिरीय ब्राह्मण। २ तपतमर्म्यापचस्ततो वै स देवानां श्रेष्ठो ऽभवच्छ्रेष्ठ स्वाना भवति य एवमभिषिच्यते।

उसके राज्याभिषेक करने की व्यवस्था दी गयी है। यजुर्वेद में इसी विषय से सम्बन्धित एक प्रसंग में ब्राह्मण पुरोहित राज्याभिषेक-निमित्त दीक्षित क्षत्रिय से यज्ञ कराता हुआ वर्णित है। इस अवसर पर यज्ञ की वेदी पर बैठा हुआ ब्राह्मण पुरोहित, यज्ञाग्नि में आहुति देते हुए उस क्षत्रिय को राज्य प्रदान किया जाय इस विषय का प्रस्ताव करता हुआ प्रार्थना करता है। पुरोहित द्वारा की जाने वाली प्रार्थना का स्वरूप इस प्रकार है—हे सचन-जलतरंग[1] तू राष्ट्र देने वाली (राष्ट्रदा) है अमुक (क्षत्रिय) के लिए राष्ट्र प्रदान कर।' यजुर्वेद के इस मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ की समाप्ति हो जाने पर राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्य का सम्पादन किया जाता था और इस कृत्य के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त उस क्षत्रिय को राजपद दिया जाता था। इसके पूर्व कदापि नहीं। यही कारण है कि प्रस्तावित राजा के लिए इस प्रसंग में अमुक (अमुष्य) शब्द का प्रयोग हुआ है, जो यह स्पष्ट कर देता है कि राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों के सम्पन्न होने के पूर्व प्रस्तावित राजा सामान्य क्षत्रिय रहता है। राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही सामान्य क्षत्रिय ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है और इस लोक में राजा बन जाता है।

इस प्रकार राज्य प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा द्वारा तत्सम्बन्धी यज्ञ का सफल अनुष्ठान और तदुपरान्त उसका राज्याभिषेक हो जाना अनिवार्य था। इसलिए यह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक आर्य राज्यों में राजपद की प्राप्ति हेतु राज्याभिषेक की अनिवार्यता के सिद्धान्त का पालन कठोरता से किया जाता था।

(च) राजकीय शपथ

राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में प्रस्तावित राजा द्वारा शपथ ग्रहण करने का कृत्य भी महत्वपूर्ण होता था। इस कृत्य के सम्पन्न हुए बिना राज्याभिषेक अपूर्ण माना गया है। उत्तर वैदिक युग में इस शपथ की शब्दावली निश्चित हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शपथ की शब्दावली आज भी ज्यों की त्यों प्राप्त है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजकीय शपथ की जो शब्दावली दी हुई है हिन्दी भाषा में उसका भावानुवाद इस प्रकार है—यदि मैं तेरे (जनता के प्रतिनिधि रूप में ब्राह्मण पुरोहित के) प्रति द्रोह करूँ, तो जन्म काल से मृत्यु काल तक की अवधि में जो भी पुण्य कार्य मेरे द्वारा हुए हों, मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जायें।

१ ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ताय। ३।१० यजुर्वेद।

ब्राह्मण साहित्य मे राजकीय शपथ की जो उपयुक्त शब्दावली दी हुई है उसका स्वरूप जनतात्रिक है। इस शपथ के ग्रहण कर लेने के उपरान्त राजा प्रजाद्रोह के अधिकार से सर्वथा वंचित हो जाता था। उसे प्रजाभक्त रहते हुए राज्य का सम्यक संचालन करना अनिवार्य था। प्रजाद्रोह करके वह शासन करने का लेश मात्र भी अधिकारी न रहता था।[1]

महाभारत में भी राजकीय शपथ का, जो कि प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर ग्रहण करता था, उल्लेख हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व के एक प्रसंग में सर्वप्रथम भारतीय राजा की उत्पत्ति का इतिहास दिया हुआ है। इस प्रसंग में ऐसा उल्लेख है कि पृथु सर्वप्रथम भारतीय राजा था। पृथु का राज्याभिषेक के अवसर पर राजकीय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। राजा पृथु ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ ग्रहण की थी उसकी शब्दावली महाभारत के शान्तिपर्व के इस प्रसंग में दी हुई है। इस शपथ की शब्दावली का भाषानुवाद इस प्रकार है—मैं (पृथु) प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस भूमि (राज्य) को ब्रह्म समझ कर इसकी सदैव मन वचन और कर्म से रक्षा करूँगा। दण्डनीति के अनुसार जो नित्य धर्म बतलाये गये हैं निर्भय होकर उनका पालन करूँगा, और कभी भी स्वच्छाचारी नहीं होऊँगा।[2]

इस प्रकार वैदिक युग में प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ उसे ग्रहण करनी पड़ती थी उसकी आत्मा के जीवित रखने का निरन्तर प्रयास हुआ है। राजकीय शपथ ग्रहण करने की वैदिक पद्धति का पालन कम से कम महाभारत के शान्तिपर्व के रचनाकाल तक अवश्य प्रचलित रहा और प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में राजकीय शपथ का ग्रहण किया जाना भी महत्वपूर्ण कृत्य होता था। यह कृत्य अनिवार्य था। इसके सम्पन्न हुए बिना प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक अपूर्ण माना जाता था।

१ यां च रात्रिं जायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि द्रुह्येयमिति। १५।४।८ ऐतरेय ब्राह्मण।

२ प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ १०६-७।५९ शान्तिपर्व महाभारत

(छ) समकालिक राजाओ द्वारा मान्यता या सिद्धात

आधुनिक युग म यदि किसी नवीन राज्य का उदय होता है तो उसके समकालिक राज्या द्वारा उसे मायता देने का चलन है। उस नवोदित राज्य को जा राजा मायता देना अस्वीकार करता है उस राजा की दृष्टि म वह नवोदित राज्य वध राज्य नही होता। आधुनिक युग म कई एस नवोदित राज्य हैं जिह विश्व के अनेक राज्या द्वारा मायता प्राप्त न होने के कारण उन राज्यो की दृष्टि म वे वध राज्य नही हैं। उदाहरण क लिए रोडेशिया राज्य एसा ही है जिसे विश्व के अनेक राज्या द्वारा मायता प्राप्त नही है। इस प्रकार इस युग की राजनीति म समकालिक राज्या द्वारा नवोदित राज्य का मायता का सिद्धात महत्वपूण है।

उत्तर वदिक साहित्य म भी इस सिद्धान्त के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण म स्पष्ट शब्दा म इस सिद्धात की स्थापना के हेतु व्यवस्था दी गयी है। वह व्यवस्था इस प्रकार है—केवल वह राजा होता है जिसे उसके समकालिक अय राजा गण मायता प्रदान कर देते हैं। इसके विरुद्ध जिस राजा को उसके समकालिक अय राजाओ द्वारा मायता प्राप्त नहा होती है वह राजा नहा होता।[1] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण म उपलब्ध यह व्यवस्था इस सिद्धात की स्थापना करती है कि वदिक आय राजा तभी वध समझा जाता था जब कि वह अपने समकालिक अय राजाओ द्वारा मायता प्राप्त कर लेता था, इसके पूव कदापि नही। इस दृष्टि से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तावित राजा की नियुक्ति म समकालिक राजाओ द्वारा मायता (Recognition) प्राप्ति क सिद्धात का पालन किया जाना आवश्यक है।

(ज) घोषणा सिद्धात

प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यो के विधिवत सम्पन्न हो जाने पर राज्याभिषक समारोह म उपस्थित जन समुदाय के समक्ष ब्राह्मण पुरोहित द्वारा नवीन राजा क प्रकट होने की घोषणा की जाती थी। यह कृत्य भी अनिवाय था। इस घोषणा का स्वरूप इस प्रकार था—हे मनुष्यो ! राजा प्रकट हुआ है। तुम सभी उससे परिचित (आवित्त) होकर उसका अनुमोदन करो। वह तुम्हारे लिए उसी प्रकार उपयोगी उपकारी तथा तुम्हारा पालक है जस अग्नि गहपतियो के लिए है (अग्नि गृहपति), इन्द्र क समान विपुल धन का दाता (वृद्धश्रवा), कत्तव्य पालन म (धत

१ यस्म वै राजानो राज्यमनुमयन्ते स राजा भवति न स यस्म न।

व्रत) मित्र और वरुण के समान,[1] विविध प्रकार के ज्ञान को धारण करने मे अथवा महान धन के स्वामी (विश्ववेदा) होने म पूषा के समान, सभी के कल्याण करने म अथवा सुख देने म (विश्वशम्भुवौ) द्यु और पृथिवी के समान, और जो अपनी सतति रूप प्रजा के लिए माता (अदिति) के समान है।[2] इसी अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित यह घोषणा भी करता था कि राजा, जिसका राज्याभिषेक द्वारा जन्म हुआ है सम्पूर्ण प्रजा (विश) का राजा है परन्तु हम ब्राह्मणो का राजा सोम है (विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा)।[3]

इस प्रकार प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सस्कार का एक अनिवार्य कृत्य राजपद के लिए अभिषिक्त राजा का लोक को परिचय देना होता था। लोक को विज्ञापित करने के लिए कि अमुक क्षत्रिय उनका राजा बनाया गया है इस प्रकार उपस्थित जन समुदाय के समक्ष तत्सम्बन्धी घोषणा करने की प्रथा का पालन किया जाता था।

(झ) दिग्विजय सिद्धान्त

नूतन राजा की नियुक्ति हो गयी है, यह घोषणा हो जाने के उपरान्त उस राजा के लिए दिग्विजय के निमित्त प्रस्थान करने की व्यवस्था वेदो म दी गयी है। यजुर्वेद म इस व्यवस्था का उल्लेख है। इस उल्लेख म इस व्यवस्था की ओर इस प्रकार सकेत किया गया है—हे राजन ! राष्ट्रविरोधी और प्रजा को क्लेश देने वाले (दन्दशूक) प्राणियो के नाश के निमित्त पूर्व दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[4] तू दक्षिण दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[5] तू पश्चिम दिशा की विजय के लिए प्रस्थान कर।[6] तू उत्तर दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[7] हे राजन् ! तू ऊर्ध्व दिशा की विजय के निमित्त प्रस्थान कर।[8]

इस प्रकार प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त राजा का परिचय देने के लिए अर्थात राजा का आविर्भाव हो गया है इस तथ्य के विज्ञापन हेतु ब्राह्मण पुरोहित द्वारा घोषणा की जाती थी और तदुपरान्त उसे अपने अधीन राज्य के शत्रुओ एव दुष्ट जनो के दमन हेतु दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना चाहिए, इस कृत्य

१ व्रतमिति कर्मणाम। ९।१० यजुर्वेद (महीधर भाष्य)।
२ ९।१० यजुर्वेद। ३ ४०।९ यजुर्वेद। ४ १०।१० यजुर्वेद।
५ ११।१० यजुर्वेद। ६ १२।१० यजुर्वेद। ७ १३।१० यजुर्वेद।
८ १४।१० यजुर्वेद।

के करने की प्रथा थी। इस कृत्य के अन्तस्तल म यह सिद्धात निहित था कि नूतन राजा म अपन अधीन प्रजा की रक्षा करने की समुचित सामर्थ्य है या नही। उसे अपने इस शौयपूण एव साहसी काय द्वारा सिद्ध कर देना चाहिए कि उसम जो राज्य उस निधि रूप म सौंपा गया है उसके सम्यक सचालन एव उसकी सभी ओर स रक्षा करने तथा शत्रुदमन काय के सम्पन्न करन की प्रत्येक प्रकार की सामर्थ्य है। जो राज्यभार उस सौपा गया है उसका कुशलता एव योग्यता से वह वहन कर सकता है। दिग्विजय के उपरात उसे अपन अधीन प्रजा के परिपालन एव उसके परिरक्षण काय मे सलग्न हो जाना चाहिए।

राज्य-च्युत राजा की पुन स्थापना

निष्कासित अथवा पदच्युत राजा को उसके पद की पुन प्राप्ति हेतु एक विशेष यज्ञ करने का विधान वदिक साहित्य म किया गया है। इस यज्ञ को सौत्रामणि यज्ञ के नाम स सम्बोधित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण म एक आख्यान है जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। वह आख्यान इस प्रकार है—चक्र स्थपति ने, दस पीढ़ियो से जिसका राजवश चला आ रहा था एसे पदच्युत राजा दुष्टरीतु पौंसायन स कहा कि वह उसके निमित्त सौत्रामणि यज्ञ करेगा और तदनुसार उस उसके पद पर पुन स्थापित करगा।[1] उसके राज्य का अपहरण सृजया द्वारा किया गया था। शतपथ ब्राह्मण म प्राप्त इस आख्यान से सिद्ध होता है कि वदिक आर्यों म पदभ्रष्ट अथवा पदच्युत आय राजा की पुन स्थापना का भी चलन था। ऐसे राजा की उसके पद पर पुन स्थापना हेतु एक विशेष प्रकार का यज्ञ किया जाता था जिसे शतपथ ब्राह्मण म सौत्रामणि यज्ञ की सज्ञा दी गयी है।

अथववद म कई एसे मत्र हैं जिनम पदच्युत अथवा राज्य भ्रष्ट राजा को उसके पद पर पुन आसीन करने के निमित्त प्राथना की गयी है। इन मत्रो मे भी सौत्रामणि यज्ञ द्वारा पदच्युत राजा की उसके पद पर पुन स्थापना करन की ओर सकेत है। इन मत्रो म कुछ का भावानुवाद इस प्रकार है—राज्यभ्रष्ट हे राजन! राजा वरुण तुझे जल (सागर नदी, सरोवर आदि) स सोम पवतो स और इन्द्र तुझे उन प्रजाजनो स बुलाय (विट्भ्य) जिनम तू आज-कल निवास कर रहा है। इस प्रकार तू उन देवताओ के बुलाने पर अपनी पूवपालित प्रजा म अघव्य होकर श्येन की गति स शीघ्र

१ २।३।९।१२ शतपथ ब्राह्मण।

आ जा।[1] दूसरे की भूमि (क्षेत्र) मे अथवा शत्रु राज्य म शत्रु द्वारा रोक गये (परस्मात्-प्क्षेत्रे अवरुद्ध चरन्तम्) ह राजन! तू पर भूमि से (परस्मात्) आ जा (आ नयतु)। अश्विनौ देव तेरे माग को सुगम करें (कृणुता सुगम्)। उसके बघुगण अथवा उसके राज्य के निवासी (सुजाता) लौट कर आये हुए अपने उस राजा म मिलकर उसका सेवन करें (त इम सजाता अभि स विशध्वम्)। हे राजन्! (निष्कासित अथवा पदच्युत राजन्) जो तेरी प्रजा तेरे प्रतिकूल थी (प्रतिजना), वह तुझे बुलाये (ह्वयतु), तेरे मित्र जो तेरे प्रतिकूल हो गये थे (प्रतिमित्रा) वे विरोध का त्याग कर तुझ स पुन प्रम करें (अमूपत)। इन्द्र, अग्नि और विश्वदेव प्रजा के क्षेम की सामर्थ्य तुझम स्थापित करें (त विशि क्षेममदीधरन्)। हे राजन्! तेरे पुन राजपद्ग्रहण के अनुमोदन पर सम बल वाला (सजाता) अथवा न्यून बल वाला (निष्टय) अन्य जो कोई विवाद कर अर्थात् विरोध करे (विवदत्) हे इन्द्र! इन सब प्रकार के उस के शत्रुओ को दूर कर अथवा बहिष्कृत करके इस राजा को प्रसिद्ध कीजिए।[5]

अथववेद म भी पदच्युत अथवा निष्कासित राजा को उसके पूव पद पर पुन स्थापना हेतु सौत्रामणि नामक यज्ञ के सम्पन्न करने की ओर सकेत किया गया है (सौत्रामण्या दधपत दवा)।[1]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि वदिक काल राज्यो म पदच्युत अथवा राज्यभ्रष्ट वा निष्कासित राजा की आवश्यकतानुसार एव परिस्थितियो के अनुकूल उसके पूव पद पर पुन स्थापना करने का चलन था। पदच्युत अथवा राज्यभ्रष्ट वा निष्कासित राजा अपने पूव पद की प्राप्ति हेतु सौत्रामणि नामक यज्ञ का विधिवत अनुष्ठान करता था। सौत्रामणि सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ब्राह्मण पुरोहित उसक पूव राजपद पर उसे आसीन करता था और इस प्रकार वह पुन अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त कर लेता था।

राजा की विविध उपाधिया

वदिक साहित्य म राजा की विविध उपाधियो की ओर सकेत किया गया है। इसस ज्ञात होता है कि उपाधियो को धारण करने के आधार पर वदिक राजा अपनी

१ ३।३।३ अथववेद। २ ४।३।३ अथववेद। ३ ५।३।३ अथववेद।
४ ६।३।३ अथववेद। ५ २।३।३ अथववेद।

इन विविध उपाधियो के अनुसार विविध श्रेणियो मे परिगणित किये जाते थे। वदिक सहिताओ म राजा की ये विविध उपाधियाँ राजा सम्राट, भोज, स्वराट, विराट, महाराज अधिपति परमेष्ठी आदि नामो से उल्लिखित हैं। यजुर्वेद के कई मत्रो म इन उपाधियो म कतिपय उपाधियो की प्राप्ति हेतु प्राथना की गयी है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण मे राजा की इन उपाधियो का स्पष्ट वणन है। ब्राह्मण साहित्य म राजा की इन विविध उपाधियो म कतिपय उपाधियो के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार इन उपाधियो का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

राजा—*राज्य के उच्चतम शासक के लिए राजा सामान्य पद था।* क्षत्रिय राजसूय यज्ञ के विधिवत अनुष्ठान द्वारा तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक कृत्यो को सम्पन्न कर राजा की उपाधि से विभूषित एव राजपद पर आसीन किया जाता था। इस प्रकार क्षत्रिय राजपद ग्रहण कर राज्य का स्वामी बनता था। शतपथ ब्राह्मण म इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए व्यवस्था दी गयी है कि राजसूय यज्ञ के विधिवत सम्पन्न कर लेने के उपरान्त क्षत्रिय का राज्याभिषेक किया जाता था। इस विधि से अभिषिक्त क्षत्रिय राजा कहलाता था।[3]

सम्राट—सम्राट पद विशेष महत्त्वपूण माना गया है। सामान्य राजा इस उपाधि क धारण करने के अधिकारी न थे। जिस राजा म इस पद के अनुरूप विशेष योग्यताए तथा गुण पाये जाते थे वही राजा इस महत्त्वपूण उपाधि के धारण करने का अधिकारी समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा द्वारा वाजपेय यज्ञ के विधिवत सम्पन्न हो जाने के उपरान्त वह राजा सम्राट पद पाने का अधिकारी समझा जाता था।[4] इसके पूव कदापि नही। कोई क्षत्रिय राजसूय यज्ञ किये बिना वाजपेय यज्ञ करने का अधिकारी न था। इसलिए सम्राट पद प्राप्ति हेतु पहले राजपद ग्रहण कर लेना आवश्यक था। अर्थात राजसूय यज्ञ द्वारा अभिषिक्त क्षत्रिय राजपद प्राप्त करता था वह राजा की स्थिति म कुछ समय शासन कर लेता था तदुपरान्त वाजपेय यज्ञ

१ देखिए अध्याय ९ यजुर्वेद।
२ कण्डिका ५ अ० २ पंजिका ८ ऐतरेय ब्राह्मण।
३ राजा व राजसूयेनेष्ट्वा। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।
सोमो राजा राजपति राज्य मस्मिन्यज्ञे मयि दधातु। ९।३।४।११ शतपथ०।
४ सम्राड वाजपेयेन। ८।४।३।९ शतपथ०।

करने का अधिकारी हो सकता था। इसके पूर्व नहीं।[1] शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् पद का स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि सम्राट सम्पूर्ण भुवन का एक छत्र अधिपति होता है। उसके समान अन्य कोई अधिपति नहीं होता और उसे हानि पहुंचाने की क्षमता रखने वाला कोई राजा नहीं होता है।[2]

इस प्रकार सम्राट सभी राजाओं का राजा होकर सम्पूर्ण भुवन में निर्विघ्न एवं निर्भय धर्मानुसार शासन करता है। शतपथ ब्राह्मण की इस व्यवस्था के अनुसार सम्राट् भुवन का एकछत्र अधिपति होता था। उसके अधीन अनेक राजा होते थे जो अपने उस सम्राट के प्रभावान्तर्गत रहकर उसकी आज्ञानुसार अपने अपने क्षेत्र में शासन किया करते थे। परन्तु सम्राट के अधीन साम्राज्य में कोई ऐसा राजा नहीं होता था जो उस का वध करने अथवा उसकी आज्ञा की अवहेलना करने की सामर्थ्य रखता हो। लोक को यह तथ्य विज्ञापित करने के लिए ही सम्राट पद की योग्यता एवं सामर्थ्य रखने वाला राजा वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान करता था और उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के उपरान्त सम्राट् पद पर अभिषिक्त किया जाता था। इस क्रम से क्षत्रिय राजा होने के उपरान्त सम्राट की उपाधि धारण करता था।

महाराज—शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में महाराज की व्याख्या अप्रत्यक्ष रूप में की गयी है। यद्यपि महाराज पद की यह व्याख्या अप्रत्यक्ष ही है परन्तु इस व्याख्या से महाराज पद के स्वरूप का बोध स्पष्ट हो जाता है। इस प्रसंग में यह बतलाया गया है कि इन्द्र 'वृत्र' का वध किये जाने के पूर्व केवल इन्द्र कहलाता था। परन्तु जब उसने वृत्र का वध कर दिया तभी उसे महेन्द्र की उपाधि प्रदान की गयी और उसी समय से इन्द्र महेन्द्र कहलाने लगा और वह महेन्द्र पद पर आसीन होकर शासन करने लगा। वृत्र का वध कर देने से उसे उसी प्रकार महेन्द्र पद प्राप्त हुआ जिस प्रकार एक राजा दूसरे राजा का वध करके उसके राज्य पर विजय प्राप्त कर महाराज पद का ग्रहण करता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित इस आख्यान से यह

१ राज्यम् वाऽप्रेऽस्य साम्राज्य तस्माद वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत प्रत्यवरोह स यथा सम्राट स न राजा। ८।४।३।९ शतपथ०।

२ आसीद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति तेनेद सवमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेद सवामस्पत तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति। ४।४।३।३ शतपथ०।

३ इन्द्रो वा एव पुरा वृत्रस्य वधाय वृत्र हत्वा महाराजो विजिग्यान एव महेन्द्रो-

स्पष्ट है कि कोई राजा, जो कि अन्य प्रबल राजा पर विजय प्राप्त कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लेता था, महाराज कहलाता था और इस प्रकार उसका राजपद महाराज पद में परिणत हो जाता था।

स्वराट—ऐतरेय ब्राह्मण में सूर्य के समान स्वतंत्र राजा को स्वराट पद का अधिकारी बतलाया गया है। जिस राजा में पराधीनता का सर्वांश में अभाव हो जाता है वह स्वराट बन जाता है। इस श्रेणी के राजा के राज्य को वैदिक भाषा में स्वाराज्य नाम से सम्बोधित किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में स्वाराज्य के अधिपति-पद की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि सर्वमेध यज्ञ कर लेने के उपरान्त स्वाराज्याधिपत्य प्राप्त होता है।[2] इस यज्ञ का फल यह होता है कि यजमान राजा अपनी आत्मा को अपने अधीन राज्य के सभी प्राणियों में और राज्य के सभी प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करने लगता है। अर्थात् वह विश्व के प्राणियों और स्वात्मा दोनों को एक समझ कर शासन करता है। जिस अधिपति में इतना उच्च कोटि का ज्ञान जाग्रत होकर तदनुसार शासन करने की क्षमता हो जाती है वह स्वराट कहलाता है और उसके अधीन राज्य स्वाराज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है—शतपथ ब्राह्मण का ऐसा मत है।

छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी भाव को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण विश्व में अपनी ही आत्मा है और सम्पूर्ण विश्व की आत्मा अपनी आत्मा में है जब यह भावना जिस व्यक्ति के आचरण में आ जाती है तब वह स्वराट बन जाता है।[3] इसलिए इस श्रेणी का श्रेष्ठ आचरण धारी अधिपति स्वराट और उसके अधीन राज्य *स्वाराज्य* कहलाता है।

ऽभवन। १७।३।३।४ शतपथ ब्राह्मण। इन्द्रः पुरा वृत्रस्य वधाय यत्र हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत। २।१।४।६।१ शतपथ ब्राह्मण।

१ विष्णुर्वे देवानां द्वारपः स एवस्मा एतद् द्वारं विवृणोति। तदाधिपत्यम्। तत् स्वाराज्यम्।

२ भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येत्येवं तद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान्मेध्यान्हत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। २।१।७।१३ शतपथ ब्राह्मण।

३ आत्मैवेदं सर्वमिति ... स स्वराड् भवति। २।२५।७ छान्दोग्योपनिषद्।

भोज—ऋग्वेद के एक मत्र म इन्द्र को भोज की उपाधि से विभूषित कर सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के इस मत्र म इन्द्र को भोज की उपाधि से विभूषित कर क्या सम्बोधित किया जाता है इस तथ्य को भी सकेत रूप मे परिलक्षित किया गया है। ऋग्वेद के इस मत्र मे इन्द्र को जिन शब्दा द्वारा सम्बोधित किया गया है उनका भाषानुवाद इस प्रकार है—इन्द्र, तुम दाता हो। इसलिए तुम्हें भोज कहते है।[1]

ऋग्वद क इस मत्र क आधार पर यह स्पष्ट है कि विशेष दानी होने के कारण भोज पद का अधिकारी राजा समझा जाता था। सम्भव है इसी परम्परा का पालन प्राचीन भारत के सुविख्यात राजा हर्षवर्धन ने किया था। वह प्रति पाचवें वष गगा तट पर अपना सवस्व दान कर देता था और अपने लिए कुछ भी नही रखता था यहा तक कि अपने निजी वस्त्रा आभूषणा आदि का भी दान कर देता था। अपने लिए वह अपनी बहन राज्यश्री स उसकी एक धोती लेता था और उसी से अपने शरीर को ढककर अपनी राजधानी थानश्वर को लौट जाता था।

इस प्रकार वदिक आय राज्या म राजा की विविध उपाधिया थी। राजपद सामान्य पद था। राज्याभिषेक के विधिवत सम्पन्न हो जाने के उपरान्त क्षत्रिय राजपद का अधिकारी हो जाता था। राजपद ग्रहण कर लेन के उपरान्त राजा अपनी योग्यता, गुण एव सामथ्य के अनुसार अय उपाधिया धारण कर सकता था। वह अपन विशेष शौय प्रताप तथा प्रतिभा के अनुसार सम्राट् विराट स्वराट भोज महाराज आदि उपाधिया धारण करन म समथ होता था।

राजा के व्रत

वदिक सहिताओ म राजा के लिए अनेक विशेषण शब्दा का उपयोग किया गया है। इन विशेषण शब्दो मे धतव्रत भी एक महत्वपूण विशेषण है।[2] राजा के लिए प्रयुक्त इस विशेषण पद स स्पष्ट है कि वदिक राजा पूव निर्धारित कतिपय व्रता को धारण कर और उनक पालन करन की शपथ ग्रहण कर राजपद पर आसीन होता था। वदिक सहिताओ मे व्रत शब्द का प्रयोग काय तथा कत्तव्य के अथ म हुआ है।[3] ऋग्वेद म इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए एक प्रसग म आय जनता के कतिपय लोगा के कत्तव्या (व्रता) का सक्षेप म उल्लेख किया गया है। उसके कुछ अशा का भाषानुवाद

१ २।४२।१० ऋग्वेद। २ १०।२५।१ ऋग्वेद। ३ १।११२।९ ऋग्वेद।

इस प्रकार है—लोगों के काय (कत्तव्य) नाना प्रकार के हैं (नाना वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्), 'शिल्पी (तक्षा) अपन काय (कत्तव्यपालन) के लिए काष्ठ चाहता है वद्य अपने काय के लिए रोग चाहता है, ब्राह्मण सोमाभिषव कर्त्ता यजमान को चाहता है इत्यादि। हम सब के भिन्न भिन्न नाना प्रकार के काय हैं।' ऋग्वेद के उपयुक्त सूक्त म मनुष्यों के नाना प्रकार के व्रतों का जो उल्लेख है उससे स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं म व्रत शब्द का प्रयोग काय अथवा कत्तव्य के अथ म हुआ है। इस तथ्य के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि राजा के व्रत का तात्पय उसके व काय अथवा कत्तव्य है जिनके विधिवत सम्पन्न होने के निमित्त राष्ट्रवासी उस अपना राजा नियुक्त करते थ और जिनको न करने स वह राजपद से च्युत हो जाता था।

वदिक राजा के व्रतों का स्पष्ट एव क्रमबद्ध वणन वदिक संहिताओं म प्राप्त नहीं है। परन्तु इन संहिताओं म यत्र-तत्र कतिपय एसे सकेत उपलब्ध हैं जिनका आश्रय लेने से ज्ञात होता है कि वदिक राजा के महत्वपूण कत्तव्य इस प्रकार थे—

(अ) प्रजा को भयमुक्त करना

ऋग्वेद के एक सूक्त मे राजा के निर्माण का जो हेतु दिया है उसके अनुसार राजा की उत्पत्ति का कारण लोक म प्राणियों का परस्पर भय था। भीत जनता ने भयमुक्त अथवा अभय होने के लिए राजपद का निर्माण कर अपने मध्य म राजा का वरण किया था।[1] वदिक संहिताओं म प्राणियों को अभय करने के लिए यत्र-तत्र प्राथनाएँ की गयी हैं। अथववेद के एक स्थल पर इसी प्रसग म अन्तरिक्ष, द्यु, पृथिवी आगे, पीछे, ऊपर नीचे सभी दिशाओं रात दिन मित्र अमित्र, परिचित अपरिचित आदि सभी प्राणी एव अप्राणी जगत से अभय होने के निमित्त प्राथना की गयी है।[2] इस प्रकार वदिक आय राजा का मुख्य अथवा प्रधान कत्तव्य अपने अधीन प्रजा को अभय करना था। राजा का कत्तव्य था कि वह अपने अधीन प्रजा के प्रत्येक प्रकार के भय का शमन करे और इस प्रकार उन्हें अभय कर दे। इस दृष्टि से अपने अधीन प्रजा के जीवन उसकी सम्पत्ति तथा उसकी विविध प्रकार की आवश्यक स्वतन्त्रता आदि के माग म उपस्थित होने वाले सभी प्रकार के भय से उसे मुक्त करने की सम्यक योजना एव व्यवस्था के विधिवत सचालन का सम्पूण दायित्व राजा पर निभर था।

१ १०।११२।९ ऋग्वेद। २ देखिए सू० ११२ मण्डल ९ ऋग्वेद।
३ ८।१२४।१० ऋग्वेद। ४ ५, ६।१५।१९ अथववेद।

प्रत्येक राज्य के समक्ष मुख्य दो प्रकार के भय होते हैं जिन्हें आभ्यन्तर भय और बाह्य भय की संज्ञा दी गया है। आभ्यन्तर भय वे होते हैं जो राज्य के निवासियों में कुछ व्यक्तियों द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। राज्य के निवासियों का यह वर्ग राष्ट्र के कण्टक अथवा राष्ट्र के शत्रु होते हैं जो निरपराध प्रजा को दुख देते रहते हैं और उसे अपने कुकृत्यों एवं दुष्ट व्यवहारों द्वारा भयभीत किये रहते हैं। बाह्य भय वे होते हैं जो राज्य के बाहर से राज्य को संकटग्रस्त करने तथा उसके नाश हेतु उत्पन्न किये जाते हैं। वे भय विशेष रूप से राज्य के पड़ोसी राज्यों एवं उनके मित्र राज्यों द्वारा खड़े किये जाते हैं। इस श्रेणी के भय से राज्य की प्रजा के प्राण एवं उसकी सम्पत्ति, उसकी बहू-बेटियों के सतीत्व, उसके जीवन सम्बन्धी क्रिया-कलापों आदि के नाश का आतंक बना रहता है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्य राजा का प्रधान कर्त्तव्य (व्रत) अपने अधीन प्रजा को इन दोनों प्रकार के भयों से मुक्त करना एवं उसे अभय रखना निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार वैदिक राजा के अनेक कर्त्तव्यों में प्रधान कर्त्तव्य प्रजा को अभय करना था। वैदिक युग के बहुत पश्चात् महाभारत काल के प्रमुख राजनीति चिन्तक महात्मा भीष्म हुए हैं। उन्होंने राजा के इसी प्रधान कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—वह राजा श्रेष्ठ है जिसके अधीन राज्य में उसकी प्रजा निर्भय होकर इस प्रकार विचरण करती है जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय होकर विचरण किया करते हैं।[1] प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के इस कर्त्तव्य को उसका प्रधान एवं अनिवार्य कर्त्तव्य निर्धारित किया है। अपने इस महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य कर्त्तव्य के विधिवत् पालन न करने से राजा अपनी प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी नहीं रहता था।[2]

(आ) कृषिविकास एवं उसकी समृद्धि

अन्न प्राण है। वही जीवनाधार है। वह लोक की स्थिति का आधार है। इस लोक में अन्न और प्राण यह ही दो देव हैं—वैदिक साहित्य में इस आशय के भाव यत्र तत्र व्यक्त किये गये हैं।[3] इस प्रकार अन्न के अभाव में इस लोक में प्राणिजगत्

१ ३३।५७ शान्तिपर्व, महाभारत। २ २५४।१९ मनुस्मृति।

३ अन्नं हि प्राणः। ५।३।७ ऐतरेय ब्राह्मण।

की स्थिति सम्भव नहा है। इसीलिए सहिताम्रा म प्रचुर ग्रन्न प्राप्त हो, ग्रन्न का ग्रभाव कभी न हो एसी प्राथनाएँ स्थान-स्थान पर की गयी हैं। इस लोक की स्थिति हतु ग्रन्न के उत्पादन एव उसकी ग्रभिवद्धि के लिए सम्यक व्यवस्था होनी ग्रनिवाय है। इसीलिए वदिक सहिताम्रा म कृषि काय परम पुनीत तथा महत्त्वपूण व्यवसाय बतलाया गया है। ऋग्वेद के दसव मण्डल के एक सूक्त म द्यूतक्रीडा दुव्यसन के दोपा का मार्मिक वणन है। इसम द्यूतक्रीडा-व्यसन मनुष्य के सवनाश का कारण बतलाया गया है। इसी प्रसग म मनुष्य के सुखमय जीवन-यापन हतु कृषि-व्यवसाय श्रेयस्कर है इस विपय की पुष्टि मे ऋग्वद म इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जुग्रारी (कितव)! कभी जुग्रा न खेलना। कृषि का काय करना। कृषि द्वारा जो भी लाभ हो उसी से स्वय को कृताथ समझना। कृषि व्यवसाय स तुझे स्त्री प्राप्त होगी और ग्रनक गौए भी प्राप्त हागी प्रभु सूयदेव न मुझसे ऐसा कहा है।[1] ऋग्वेद मे ग्रन्य स्थलो पर भी यत्र-तत्र कृषि व्यवसाय की बहुत कुछ उपयोगिता एव उसके महत्त्व की ग्रोर सकेत किये गये है। कृषि काय के विविध साधना एव उनके सम्यक उपयोग तथा इस काय म दक्षता प्राप्त करन ग्रौर कृषि विकास योजना ग्रादि के विपय म ऋग्वेद म सकेत किये गये है।[2] ऋग्वद के इन्ही प्रसगो म कृषि व्यवसाय को पुनीत एव परम उपयोगी बतलाया गया है। यजुर्वेद म भी मनुष्य के लिए कृषि व्यवसाय की पवित्रता उपादेयता दक्षता ग्रादि के विपय म लगभग वही भाव व्यक्त किये गये है जो कि ऋग्वेद म पाये जात है।[3] ग्रथववेद म भी कृषि व्यवसाय के विपय म ऋग्वेद ग्रौर यजुर्वेद के ग्रनुसार ही विचार व्यक्त किये गये हैं।[4] इस प्रकार वदिक युग म कृषि काय मनुष्य के लिए पुनीत एव परम उपयोगी समझा जाता था ग्रौर वह जीवनाधार माना जाता था।

प्राणिया के जीवन का ग्राधार होने के कारण कृषि व्यवसाय सम्यक व्यवस्थित रहना चाहिए तदनुसार ग्रन्नोत्पादन तथा ग्रन्न की ग्रभिवद्धि की स्वस्थ योजना का निर्माण एव उसका विधिवत कार्यान्वित होना सावजनिक सच्चे प्रयास का फल होता है। इसलिए प्रत्यक राज्य म इस महान दायित्व का निवाह राज्य के शासक की देख रख म करना ग्रावश्यक हो जाता है। इसीलिए वदिक सहिताम्रा म कृषि के सम्यक विकास एव उसकी स्वस्थ ग्रभिवद्धि का भार राजा को सौंपा गया है। इन सहिताम्रा म वदिक

१ १३।३४।१० ऋग्वेद। २ सूक्त ५७ मण्डल ४ ऋग्वेद।
३ ६७ से ७१।१२ यजुर्वेद। ४ सूक्त १७ काण्ड ३, अथववेद।

राजा के महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों में कृषि विकास एवं उसकी समृद्धि सम्बन्धी समस्त कार्यों का विधिवत सम्पादन उसके अधीन राज्य में होता रहे, यह उसके अनिवार्य कर्तव्यों में एक कर्तव्य बतलाया गया है। जिस समय वैदिक आर्य राज्य में राजपद हेतु किसी क्षत्रिय का राज्याभिषेक किया जाता था उसी समय उपस्थित जन समारोह के समक्ष यह स्पष्ट घोषणा की जाती थी कि कृषि की सर्वांग सम्पन्नता समृद्धि एवं उसके विकास हेतु उसे राजपद पर अभिषिक्त कर राजा बनाया जा रहा है।[1]

इस प्रकार वैदिक संहिताओं के अनुसार कृषि के सम्यक एवं सर्वांग विकास तथा उसकी समृद्धि हेतु योजना का निर्माण कर प्रजा के समक्ष प्रस्तुत करना और उस योजना के कार्यान्वित होने की स्वस्थ एवं सम्यक व्यवस्था करना वैदिक राजा के कर्तव्यों में एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कर्तव्य था। अपने इस कर्तव्य-पालन में प्रमाद अथवा उपेक्षा करने से राजा अपने पद से च्युत हो जाने योग्य हो जाता था।

कृषि कार्य की समृद्धि एवं सम्पन्नता के लिए कृषिभूमि की समय समय पर आवश्यकतानुसार सिंचाई होना अनिवार्य है। यजुर्वेद में इसीलिए समय समय पर आवश्यकतानुसार मेघ वर्षा करते रहें, ऐसी प्रार्थना की गयी है।[2] सिंचाई के साधनों के अभाव में कृषि कार्य में भगीरथीय प्रयास करने पर भी पूर्ण लाभ नहीं होने पाता। इसीलिए वैदिक संहिताओं में राजा के कर्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत कृषि भूमि की विधिवत एवं आवश्यकतानुसार सिंचाई हेतु नहरों के निर्माण-कार्य को भी उचित स्थान दिया गया है। इस विषय में यजुर्वेद के एक प्रसंग में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—हे राजन! तू जल की नालियाँ अथवा नहरों का प्रसार कर।[3] नहरों के अतिरिक्त कूपों की व्यवस्था करने के लिए भी वैदिक संहिताओं में संकेत किये गये है।[4]

(इ) भौतिक सुखसाधनों की अभिवृद्धि

वैदिक आर्य कोरे अध्यात्मवादी न थे। आत्म विकास के साथ साथ भौतिक सुख की प्रचुर सामग्री के उत्पादन उसकी अभिवृद्धि उसके सम्यक वितरण और उसके उचित एवं न्याययुक्त उपभोग की स्वस्थ एवं सम्यक व्यवस्था उनके समाज में रहे, उनकी ऐसी अटूट आस्था थी। भौतिक सुख के पर्याप्त साधन एवं तत्सम्बन्धी प्रचुर सामग्री आर्य जनता को सुलभ हो इस उद्देश्य से वेदों में अनेक प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

१ २२।९ यजुर्वेद। २ निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु। २२।२२ यजुर्वेद।
३ १२।६ यजुर्वेद। ४ ३८।१६ यजुर्वेद।

ऋग्वेद का प्रारम्भ अग्नि की स्तुति से होता है। इस प्रसंग में एक ऋचा में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि अग्नि देव की कृपा से हम उस धन की प्राप्ति हो जो प्रतिदिन हमारा पोषण करे, जिस धन से हम मान की प्राप्ति हो सके और जिससे हमसे बल की वृद्धि हो।[1] ऋग्वेद की एक ऋचा में प्रार्थना की गयी है कि इन्द्र! हम महती कीर्ति युक्त दान-सामर्थ्य-युक्त धन और अन्न से परिपूर्ण बनाकर रख दीजिए।[2] साम! हम प्रचुर परिमाण में भी मनुष्यों को धन प्रदान कीजिए गाय दो अश्व और यथेष्ट बल से संयुक्त अन्न भी प्रदान कीजिए।[3] भौतिक सुख की प्रचुर सामग्री की प्राप्ति हेतु यजुर्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार याचना की गयी है—हे ब्रह्मन्! हम ऐसा राष्ट्र दीजिए जिसमें ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण शूरवीर बाण विद्या में कुशल शत्रुओं का अतिक्रमण करने वाले एवं महारथी क्षत्रिय दूध देनेवाली गौएँ भार वहन करने वाले बैल शीघ्रगामी अश्व गाहस्थ्य धर्म को धारण करने वाली सुन्दर शरीरवाली महिलाएँ रथ वालों से सम्पन्न सभ्य वीर युवा उत्पन्न हों इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें और हमारे राष्ट्र में फलवती ओषधियाँ परिपक्व हों तथा योगक्षेम बना रहे।[4] अथर्ववेद में भी इसी विषय की अनेक प्रार्थनाएँ उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में मनुष्य के भौतिक कल्याण हेतु जिन विशेष पदार्थों की आवश्यकता होती है उनकी ओर संकेत किया गया है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है—हे ब्रह्मन्! हम आयु प्राण बल संतति पशु कीर्ति धन और ब्रह्मतेज प्रदान कीजिए। इस प्रकार अथर्ववेद के इस मन्त्र में लगभग उन सभी पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है जो कि मनुष्य के भौतिक सुख के लिए वाञ्छनीय हैं।[5]

परन्तु उपर्युक्त सामग्री एवं पदार्थों की प्राप्ति हेतु अथक पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। इसलिए शासक और शासित दोनों इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थी होने चाहिए। इसीलिए वैदिक आर्य अपने राजा से यह आशा रखते थे कि वह अपने अधीन राज्य में ऐसी व्यवस्था करेगा जिसके अनुसार राज्य में सुख समृद्धि सदैव बनी रहेगी। इस दृष्टि से वैदिक राजा का यह एक प्रधान कर्त्तव्य निर्धारित किया गया था कि वह राज्य में सुख की प्रचुर सामग्री के उत्पादन, उसकी अभिवृद्धि उसके सम्यक् एवं न्याय युक्त वितरण एवं सम्यक् उपभोग की सुदृढ़ एवं स्वस्थ योजना बनाये और उसके कार्या

१ ३।१।१ ऋग्वेद। २ ८।९।११ ऋग्वेद। ३ ७।४३।१ ऋग्वेद।
४ २२।२२ यजुर्वेद। ५ १९।७१।१९ अथर्ववेद।

वित होने की व्यवस्था करे। वदिक राजा के इसी कत्तव्य का उसे स्मरण कराते हुए उसके राज्याभिषेक के समय उपस्थित जनसमूह के समक्ष यह घोषित कर दिया जाता था कि वे लोग अपने उस राजा का राज्याभिषेक कतिपय निर्धारित कर्तव्यो के पालन हेतु कर रहे है। इन निधारित कत्तव्या म राज्य मे भौतिक सुख समद्धि-सम्बन्धी सामग्री का प्रचुर मात्रा म उत्पादन एव उसकी अभिवद्धि करना भी उसका एक प्रमुख कत्तव्य था। यजुर्वेद के एक स्थल पर राजा के इस कत्तव्य की ओर सकेत करते हुए प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के समय इस कत्तव्य के पालन हेतु उसे इस प्रकार सावधान किया गया है कि तुझे (प्रस्तावित राजा को) भौतिक सुख समद्धि (रायै) के लिए राजपद पर अभिषिक्त कर रहे हैं।

इस प्रकार वदिक आय राजा का तीसरा प्रमुख कत्तव्य यह निधारित किया गया था कि वह अपने अधीन राज्य म भौतिक सुख-समद्धि की प्रचुर सामग्री का उत्पादन, उसकी अभिवद्धि, उसके सम्यक तथा न्याययुक्त वितरण और उसके सम्यक एव न्यायोचित उपभोग की स्वस्थ एव सुदृढ व्यवस्था करने मे सदव पुरुषाथ करता रहेगा।

(ई) सावजनिक कल्याण

वदिक सहिताओ मे राजा के एक और महत्वपूण कत्तव्य की ओर सकेत किया गया है। राजा का यह कत्तव्य अपने अधीन प्रजा के सावजनिक कल्याण की सम्यक् व्यवस्था करना था। सावजनिक कल्याण से उनका तात्पय था कि इस लोक मे जब तक मनुष्य जीवित रहे उसका प्रत्येक प्रकार का कल्याण होता रहे और जब वह अपना जीवन त्याग कर परलोक को गमन कर तो उसका वहा भी कल्याण हो। इसलिए राजा अपने अधीन अपनी प्रजा के श्रेय और प्रेय दोना मार्गों को उसके लिए प्रशस्त करने का यथा सम्भव प्रयत्न करता रहता था।[1] राज्य के निवासियो का कल्याण हो इसके लिए सम्यक व्यवस्था करना वदिक राजा का महत्त्वपूण कत्तव्य निर्धारित किया गया था। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित उसको सावधान करता हुआ उसे वचनबद्ध करता था कि वह अपने अधीन प्रजा के सावजनिक कल्याण सम्पादन म प्रमाद न करेगा। इस प्रसग म यजुर्वेद के एक स्थल पर इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—प्रस्तावित राजन यह राष्ट्र तुझे दिया गया। हम तुझे कृषि के लिए सुख समद्धि क लिए पोषण हेतु और सावजनिक कल्याण हेतु इस राज्य

१ २२।९ यजुर्वेद। २ २२।९ यजुर्वेद।

के राजपद के लिए अभिषिक्त कर रहे हैं।[1] इसी मन्त्र में अन्यत्र अग्नि स्वरूप राजा से उसके राज्याभिषेक के अवसर पर इस प्रकार प्रजा के मंगल की कामना व्यक्त की गयी है—हे अग्निरूप राजन्! तू हम प्रजाओं के लिए मंगलकारी (शिव) होकर इस राष्ट्र में रहने वाली प्रजा का कल्याण करके (शिव कृत्वा) अपने राजासन पर आसीन हो और इसके पश्चात् राजपद में रत हो जा।[2] यजुर्वेद के एक अन्य स्थल पर प्रस्तावित राजा द्वारा उसके अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण सम्पादन का भार स्वीकृत करते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—हे उत्तम कीर्ति वाले! उत्तम कल्याण युक्त सत्य व्यवहार राजन्! तू श्रेष्ठ प्रजा पालक है। सार्वजनिक मंगल कार्यों के सम्पादन हेतु तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ।[3] यजुर्वेद के इसी अध्याय के एक मन्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—हे प्रस्तावित राजन्! तेज की प्राप्ति हेतु, ब्रह्मतेज की प्राप्ति हेतु, अविद्या और रोग निवारण हेतु, पराक्रम के लिए, अन्नादि की वृद्धि के लिए, विद्युत् के समान बल के लिए, राज्यश्री के लिए, यश के लिए—इन सभी सार्वजनिक कल्याण के लिए तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं के अनुसार अपने अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण का सम्पादन करना तथा उसके सम्यक् पोषण करने की उचित व्यवस्था करना वैदिक राजा का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

(उ) ज्ञान प्रसार कार्य

अज्ञान मनुष्य का प्रबल एवं भयंकर शत्रु है। अज्ञानान्धकार ग्रस्त मनुष्य विवेक शून्य होकर कर्तव्याकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है और भले-बुरे की पहचान करने में असमर्थ हो जाता है। ज्ञानविहीन प्राणी घोर अंधकार में ग्रस्त होकर अपनी जीवन यात्रा में पथ भ्रष्ट हो जाता है और अपने गन्तव्य स्थान पर न पहुंच कर इधर-उधर भटकता हुआ अपना सर्वनाश कर लेता है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर बुद्धि की प्राप्ति एवं उसके सुविकास की याचना की गयी है।[4] वेदों का सार गायत्री मन्त्र बतलाया गया है। इस मन्त्र में बुद्धि की प्राप्ति एवं उसके विकास हेतु सविता देव से याचना की गयी है।[5] वैदिक संहिताओं में इस विषय की प्रचुर सामग्री है जिसमें

१ २२।९ यजुर्वेद। २ १७।१२ यजुर्वेद। ३ ४३।२० यजुर्वेद।
४ ३।२० यजुर्वेद। ५ ६।८।१ ऋग्वेद ६ १।९।६ ऋग्वेद।

अधकार स प्रकाश म प्रवेश हेतु प्राथनाएँ की गयी है। ऋग्वेद म एक स्थल पर राजा को अग्नि स्वरूप मानकर स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि वह अपन अधीन प्रजा मे अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रसार करता है।[1] यजुर्वेद में राज्याभिषक की प्रक्रिया का सक्षिप्त विवरण दिया हुआ है। इसी प्रसग म यह स्पष्ट किया गया है कि प्रजा म ज्ञान प्रसार करना राजा का प्रमुख कतव्य है। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित राजा के इस कतव्य की ओर सकेत करता हुआ उपस्थित जन-समूह क समक्ष स्पष्ट शब्दा म कहता है—इस राजपद के लिए तरा अभिषेक कर रहा हूँ। तू इस राज्य म ज्ञान का प्रसार कर।[2] इस प्रकार यजुर्वेद क इस प्रसग म ज्ञान प्रसार हेतु तत्सम्बन्धी स्वस्थ एव सुदृढ योजना का निर्माण कर उसे विधिवत् कार्यान्वित करना एव अपन अधीन प्रजा म ज्ञान वद्धि की रुचि उत्पन्न करना और उसका तदनुसार आचरण कराना वदिक राजा के कतव्य क्षेत्र के अन्तगत निधारित किया गया है। यजुर्वेद क बीसव अध्याय के एक मत्र म कतिपय एस कार्यो का उल्लेख है जिनके सम्पादन हेतु वदिक आय राजा का राज्याभिषेक किया जाता था। इन कार्यों म ज्ञान प्रसार (सरस्वत्य) भी एक प्रधान काय है।[3]

उपयुक्त तथ्यपूण सामग्री क आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि अपने अधीन राज्य की जनता म ज्ञान प्रसार काय का सम्पादन और तदनुसार अज्ञानान्धकार स उस जनता का मुक्त करना तथा अज्ञानान्धकार के स्थान में ज्ञान सस्थापना करना वदिक आय राजा का एक महत्वपूण कतव्य था।

प्रजा के प्रति राजा की कतव्य नीति

राजा और उसकी प्रजा के मध्य किस प्रकार व्यवहार होना चाहिए, इस विषय म भी वदिक सहिताओ म यत्र-तत्र सकत किये गये हैं। इन सकेता के आधार पर ज्ञात होता है कि वदिक आर्यो का दृढ मत था कि राजा और उसके अधीन उसकी प्रजा के मध्य माता और उसके शिशुवत् व्यवहार होना चाहिए। इसलिए अपने अधीन प्रजा के प्रति राजा का वही कतव्य है जो कि माता का कतव्य अपने शिशु के प्रति होता है। माता अपने शिशु का पालन पोषण करती, उसके क्लेशा का निवारण करती और उसक सर्वांग विकास के लिए प्रत्येक सम्भव साधन सम्पन्न करती है। इसके साथ ही वह

१, ३१, ३२।१० यजुर्वेद २ ३, ३३।२० यजुर्वेद। ३ ७।१० यजुर्वेद।

उद्दण्ड शिशु को अनुशासन एवं नियमण में रखती है। इसलिए वैदिक आर्य राजा का कर्तव्य अपने अधीन प्रजा के इन्हीं कार्यों का सम्पादन करना है। वैदिक संहिताओं में राजा और प्रजा के इस सम्बन्ध की ओर इस प्रकार संकेत प्राप्त है—राजा अपनी प्रजा के प्रति उसी प्रकार प्रतिष्ठित रहे (व्यवहार करे) जिस प्रकार माता अपने शिशु के प्रति स्नेहमयी बनकर प्रतिष्ठित रहती है। इस प्रसंग में जो वेदमंत्र उद्धृत किया गया है उसके दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ये दो शब्द पस्त्य और अपस्य हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः प्रजा (विश) और कर्म है।[2] इन्हीं अर्थों में ये दोनों शब्द इस मंत्र में आये हैं। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राजा और उसके अधीन प्रजा के मध्य माता और उसके शिशु का व्यवहार एवं आचरण होना चाहिए ऐसा वेदमत है। माता अपने शिशु को उसके कल्याण हेतु गर्भ में धारण करती है, पालन पोषण करती है उसका सर्वांग विकास करती है और इस तरह प्रत्येक प्रकार से कल्याण करती है। वेद के अनुसार अपनी प्रजा के प्रति राजा का यही कर्तव्य है। वैदिक युग के बहुत समय उपरान्त महाभारत युग में महात्मा भीष्म ने राजा और प्रजा के परस्पर कर्तव्यों पर अपना मत व्यक्त करते हुए इसी नीति का अनुसरण किया है। उन्होंने भी राजा का उसकी प्रजा के प्रति व्यवहार माता और उसके गर्भस्थ शिशु के प्रति व्यवहार के सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर के समक्ष अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपनी प्रिय वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है उसी प्रकार राजा भी अपने अधीन प्रजा के कल्याण हेतु अपने हितकारी कार्यों का परित्याग कर और निरन्तर उसके कल्याण में संलग्न रहे।[3]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह कहना उचित ही है कि वैदिक राजा के कर्तव्यों के विषय में वैदिक संहिताओं में स्पष्ट नीति का प्रतिपादन किया गया है। यह मातृस्नेह परिप्लावित नीति है। इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक राजा का प्रधान कर्तव्य अपने अधीन प्रजा के प्रति उस व्यवहार एवं आचरण को धारण करने का था जो व्यवहार एवं आचरण माता अपने शिशु के पालन-पोषण, उसके सर्वांग एवं

१ ७।१० यजुर्वेद। २ विशो वै पस्त्या। १३।५।३।५ शतपथ ब्राह्मण। अप इति कर्मनाम १-२ निघण्टु। ३ ४५।५६ शान्तिपर्व महाभारत।

सम्यक् विकास तथा उसके परम कल्याण हेतु धारण करता है। इसीलिए वदिक महिताओं म राजा स्पष्ट शब्दो म सावधान किया गया है कि उसकी प्रजा के प्रति उसका व्यवहार एव आचरण सप अथवा व्याघ्र जसे क्रूर एव हिंसक प्राणियो के व्यवहार के समान कदापि नही होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा पर सुख की वर्षा करने वाला होना चाहिए। इन सहिताओं म इस विषय म राजा को सावधान करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—"राजन! तू सप (क्रूर एव हिंसक) मत बन और न व्याघ्र (निदय एव हिंसक) ही बन। तू प्रजा के सुखो का विस्तार करने वाला बन और सत्य मार्ग का अनुसरण कर (ऋतस्य पथानमनु)।[1]

इस प्रकार प्रजा के प्रति राजा की वतव्य नीति की ओर सकेत किया गया है। यह नीति मान स्नेह परिप्लावित है और जो माता और उसके शिशु के परस्पर व्यवहार एव आचरण पर आधारित मानी गयी है।

राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह से घृणा

वदिक सहिताओं म राजद्रोह और प्रजाद्रोह दोनो के प्रति घृणा के भाव व्यक्त किये गये हैं। इन सहिताओं म कई मत्र हैं जिनम राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह के विरुद्ध विचार किये हुए हैं। इन म से कुछ मत्रो का साराश यहा दिया जा रहा है। इस प्रसग के एक मत्र म इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे शत्रु विजेता राजन! हम लोग तेरे विरुद्ध आचरण न करें। हम लोगो म जो अधर्माचारी हैं उन्हें हम नष्ट कर रहे हैं।[2] हे मातृ भूमि! तू मेरी हिंसा मत कर और मैं भी तेरी हिंसा न करूँ।[3] इस मत्र म राजा और प्रजा दोनो परस्पर रक्षा करें इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसी प्रसग म एक अन्य स्थल पर इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे राजन! तू इस पृथ्वी माता को सन्तप्त एव उग्र तेज से शोकयुक्त मत कर। इस प्रकार इस मत्र म राजा द्वारा किये जाने वाले प्रजाद्रोह की निन्दा की गयी है। इस प्रसग म प्रजा के नाश करने का निषेध किया गया है जो इस प्रकार है—हे अग्रनेता! तू विद्या और ज्ञान से प्रकाशमान मगलकारी कार्यों द्वारा सत्कार के साधना द्वारा, महान तेज द्वारा प्रकाशित होकर सुखो का सम्पादन कर और पालन योग्य प्राणियो की हिंसा मत कर।[5] इसी प्रसग म अन्य स्थल पर इस प्रकार विचार व्यक्त किये

१ १२।६ यजुर्वेद। २ २२।१० यजुर्वेद। ३ २३।१० यजुर्वेद।
४ १५।१२ यजुर्वेद। ५ ३२।१२ यजुर्वेद।

गय है—हे राजन् ! तू क्षत्र (क्षात्र बल) का आधार है, तू क्षत्र का केन्द्र स्थान है। इसलिए किसी व्यक्ति का भी तेरी हिंसा नहीं करनी चाहिए।' इस मंत्र में भी राजा और प्रजा दोनों वैर त्याग कर परस्पर रक्षा में प्रवृत्त रहें, इस विषय की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार उपयुक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संहिताओं में राजा और उसकी प्रजा, दोनों के लिए परस्पर वैर एवं हिंसा त्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह दोनों की निन्दा की गयी है। राजा और उसकी प्रजा दोनों परस्पर सहयोगी एवं पूरक माने गये हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। इसलिए ये दोनों परस्पर सहयोग एवं एक दूसरे का हित चिन्तन करते हुए स्वकर्तव्यों का सम्यक् पालन करते रहें, इसी में प्राणि मात्र का कल्याण निहित है। बस यही कल्याण मार्ग है। राजा और प्रजा दोनों इसी कल्याण मार्ग के पथिक रहें राजा और उसकी प्रजा के लिए वेद का यही उपदेश है।

१ १।२० यजुर्वेद।

अध्याय ७

संविधान और विधि

वैदिक आर्य राज्य का संविधान

वैदिक संहिताओं के राजनीतिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों के संगठन एवं संचालन हेतु उनके संविधान होते थे। प्रत्येक आर्य राज्य के अधिपति (प्रधान शासक) की नियुक्ति उसका क्षेत्राधिकार, उसके कर्तव्य और अधिकार उसकी पदच्युति आदि, सभी विषयों का निर्धारण पूर्व निर्धारित एवं निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों के आधार पर होता था। उदाहरण के लिए, इन नियमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राजपद प्राप्ति का अधिकारी न था। केवल राजन्य (क्षत्रिय) राजपद पर आसीन किया जा सकता था। उस राजन्य में ओज, बल, शौर्य विक्रम प्रशासन योग्यता आदि विशेष गुणों का प्राधान्य होना अनिवार्य था। इन नियमों के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु प्रस्तावित क्षत्रिय का राज्याभिषेक होना अनिवार्य कृत्य था। अनभिषिक्त राजा वैध नहीं समझा जाता था। आर्य जन अनभिषिक्त क्षत्रिय को अपना राजा कभी स्वीकार नहीं करते थे। राजपद ग्रहण करने के लिए प्रस्तावित राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन समारोह के समक्ष राजकीय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। इसी प्रकार पूर्व निर्धारित एवं निश्चित कतिपय नियम थे जिनके आधार पर राज्य की सरकार का संगठन एवं संचालन हुआ करता था। राजा अथवा उसके अधीन अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी इन नियमों के उल्लंघन करने के अधिकार से सर्वथा वंचित थे। यदि कोई व्यक्ति उनमें किसी भी नियम का उल्लंघन करने का साहस करता तो वह तुरन्त पदभ्रष्ट कर दिया जाता था। इन्हीं तथा इस प्रकार के नियमों के समुच्चय अथवा संग्रह ने वैदिक आर्य राज्य के संविधान का रूप ग्रहण कर लिया था। इसी संविधान के अनुसार वैदिक आर्य राज्य का संगठन एवं संचालन हुआ करता था।

वैदिक आर्य राज्य के संविधान के विशेष लक्षण

वैदिक आर्य राज्य का संविधान परम पुनीत समझा जाता था। उसके अन्तर्गत धाराओं का पालन श्रद्धा भक्ति से किया जाता था। वह अलंघनीय एवं सर्वमान्य समझा जाता था। इस संविधान की एक भी धारा का उल्लंघन महान पाप समझा जाता था।

गये है—हे राजन्! तू क्षत्र (क्षात्र बल) का आधार है, तू क्षत्र का केन्द्र स्थान है। इसलिए किसी व्यक्ति को भी तेरी हिंसा नही करनी चाहिए।[1] इस मंत्र में भी राजा और प्रजा दोनो वैर त्याग कर परस्पर रक्षा में प्रवृत्त रहे, इस विषय की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक सहिताओं में राजा और उसकी प्रजा, दोनो के लिए परस्पर वैर एवं हिंसा त्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह दोनो की निन्दा की गयी है। राजा और उसकी प्रजा दोनो परस्पर सहयोगी एव पूरक माने गये हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। इसलिए ये दोनो परस्पर सहयोग एव एक दूसरे का हित चिन्तन करते हुए स्वकर्तव्यो का सम्यक पालन करते रहें इसी मे प्राणि मात्र का कल्याण निहित है। बस यही कल्याण मार्ग है। राजा और प्रजा दोनो इसी कल्याण मार्ग के पथिक रहे राजा और उसकी प्रजा के लिए वेद का यही उपदेश है।

१ १।२० यजुर्वेद।

अध्याय ७

।सविधान और विधि

वदिक आय राज्य का सविधान

वदिक सहिताम्रा के राजनीतिक अध्ययन से नात होता है कि वदिक आय राज्या क सगठन एव सचालन हतु उनके सविधान होते थे। प्रत्येक आय राज्य के अधिपति (प्रधान शासक) का नियुक्ति, उसका क्षेत्राधिकार उसके कतव्य और अधिकार, उसकी पदच्युति आदि, सभी विषया का निर्धारण पूव निर्धारित एव निश्चित नियमा तथा सिद्धान्ता क आधार पर होता था। उदाहरण के लिए, इन नियमा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राजपद प्राप्ति का अधिकारी न था। केवल राजय (क्षत्रिय) राजपद पर आसीन किया जा सकता था। उस राजय म ओज बल, शौय, विक्रम, प्रशासन योग्यता आदि विशेष गुणा का प्राधान्य होना अनिवाय था। इन नियमा के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु प्रस्तावित क्षत्रिय का राज्याभिषेक होना अनिवाय कृत्य था। अनभिषिक्त राजा वध नही समझा जाता था। आय जन अनभिषिक्त क्षत्रिय को अपना राजा कभी स्वीकार नही करते थे। राजपद ग्रहण करने के लिए प्रस्तावित राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन समारोह के समक्ष राजकीय शपथ ग्रहण करनी पडती थी। इसी प्रकार पूव निर्धारित एव निश्चित कतिपय नियम थे जिनके आधार पर राज्य की सरकार का सगठन एव सचालन हुआ करता था। राजा अथवा उसके अधीन अय अधिकारी तथा कमचारी इन नियमा के उल्लघन करने के अधिकार से सवथा वचित थे। यदि कोई व्यक्ति उनम किसी भी नियम का उल्लघन करने का साहस करता तो वह तुरन्त पदभ्रष्ट कर दिया जाता था। इन्ही तथा इस प्रकार के नियमो के समुच्चय अथवा सग्रह न वदिक आय राज्य के सविधान का रूप ग्रहण कर लिया था। इसी सविधान के अनुसार वदिक आय राज्य का सगठन एव सचालन हुआ करता था।

वदिक आय राज्य के सविधान के विशेष लक्षण

वदिक आय राज्य का सविधान परम पुनीत समझा जाता था। उसके अन्तगत धाराम्रो का पालन श्रद्धा भक्ति से किया जाता था। वह अलघनीय एव सवमान्य समझा जाता था। इस सविधान की एक भी धारा का उल्लघन महान् पाप समझा जाता था।

आय जन राजा तथा उसके अधीन काय करने वाले अन्य छोटे-बड़े कायकर्ताओं आदि की दृष्टि म यह सविधान सर्वांश म मान्य परम्पुनीत एव अलघनीय था।

इस सविधान की दूसरी विशेषता इसके अनम्य स्वरूप (Rigid) होने की थी अर्थात वदिक आय राज्य का यह सविधान अनम्य सविधानो की श्रेणी म परिगणित किया जायगा। इस सविधान के अन्तगत इसकी धाराओ अथवा इसके नियमो तथा उपनियमो म किसी प्रकार का सशोधन परिवद्धन अथवा परिवतन आदि सम्भव न नही किया जा सकता था। इस काय के लिए विशेष साधनो एव उपायो का आश्रय लेना अनिवाय था। इसका कुछ अश जसे राज्य ही राजपद का अधिकारी होगा, प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक होगा प्रस्तावित राजा को राजपद से सम्बन्धित शपथ ग्रहण करनी होगी आदि अपरिवतनीय असशोधनीय असवद्धनीय था। केवल उसकी प्रक्रिया म समय एव आवश्यकता के अनुसार कुछ हेर फेर किया जा सकता था सो भी विशेष परिस्थिति म और महान जटिलता से। इस हेर फेर करने के लिए विशेष परिषद अथवा विद्वत-सम्मेलन के निणय की आवश्यकता होती थी। इसम विदथ नाम की सस्था का विशेष योगदान रहता था। इस विशेष काय प्रणाली द्वारा ही उक्त सविधान की धाराओ अथवा नियमो एव उपनियमो की प्रक्रिया म किंचित हेर फेर किया जा सकता था। इस दृष्टि से वदिक आय राज्य का यह सविधान अनम्य था। यह इसकी एक महत्त्वपूण विशेषता थी।

वदिक आय राज्य के इस सविधान की एक और विशेषता थी। यह सविधान आशिक लिखित एव आशिक अलिखित था। इसका लिखित अश आज भी ज्यो-का-त्यो वदिक साहित्य मे उपलब्ध है। इसका अलिखित अश आय जन-जीवन म प्रचलित प्रथाओ प्रचलनो आदि पर आधारित था। सविधान के इस अश को लेखबद्ध करने की आवश्यकता अनुभव नही की गयी था।

वदिक आय राज्य के सविधान के उपयुक्त विशेष लक्षणो के अतिरिक्त एक विशेषता यह भी थी कि देश काल और परिस्थिति के अनुसार इसके विविध रूप थे। वदिक आदि राज्य के सविधान के इन विविध प्रकारो का उल्लेख वदिक साहित्य म है। इससे यह स्पष्ट है कि वदिक आर्यों ने अपने राजनीतिक जीवन मे विविध प्रकार के सविधानो को कार्यान्वित किया था और तदनुसार विविध प्रकार के राज्यो की भी स्थापना की थी। परन्तु यह स्मरण रहे कि इन विविध सविधानो के मूल तत्व अथवा उनकी आत्मा एक ही बनी रही। इनके अन्तस्तल मे एक ही सिद्धान्त निहित था।

विविध सविधान

वदिक साहित्य म कुछ ऐसे सकेत उपलब्ध है जिनसे ज्ञात होते है कि वदिक आय राजा अपनी विविध उपाधियो के अनुसार विविध प्रकार के होते थे। उनकी इन उपाधियो के अनुरूप ही वदिक आय राज्यो का सगठन एव सचालन होता था। इन राज्यो का पथक-पथक् अपना स्वरूप था और तदनुसार ही उनके पथक पथक सविधान होते थे। इन्ही सविधानो के आधार पर उनमे प्रशासन की रूपरेखा बनायी जाती थी। वदिक सहिताओ म इन सविधानो म से कुछ की ओर सकेत किये गये है।[1] उत्तर वदिक युग म इनके विशेष उल्लेख है। एतरय ब्राह्मण मे इन सविधानो की ओर सकेत किया गया है। इस सकेत के अनुसार ये सविधान राज्य, साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वराज्य, पारमेष्ठय माहाराज्य आधिपत्यमय और स्वावश्य सविधान थे।[2] वदिक सहिताओ म इनका स्पष्ट उल्लेख नही है। परन्तु उत्तर वदिक साहित्य म अपेक्षाकृत इस विषय म कुछ अधिक सूचना उपलब्ध है और उनकी नामावली भी स्पष्ट दी गयी है। इसम यह ज्ञात होता है कि इन सविधानो का विकास उत्तर वदिक काल म विशेष रूप म हुआ था। इन सविधानो का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा इस विषय के बोध हेतु तथ्यपूर्ण सामग्री का अभाव होने के कारण इस महत्त्वपूर्ण विषय पर विशेष प्रकाश डालना सम्भव नही। तथापि जो कुछ भी प्रामाणिक सामग्री वदिक साहित्य म आज हम उपलब्ध है उसके आधार पर वदिक राज्यो के इन सविधानो का यथासम्भव परिचय यहा दिया जा रहा है।

राज्य-सविधान—राज्य-सविधान के अतगत राज्य का सर्वोच्च शासक अथवा अधिपति राजा कहलाता था। उसकी नियुक्ति के कतिपय विशेष नियम थे। इनम एक महत्त्वपूर्ण नियम यह था कि क्षत्रिय ही राजा हो सकता था, अन्य कोई व्यक्ति राजपद पाने का अधिकारी न था। राजपद पर क्षत्रिय की नियुक्ति हेतु विधिवत प्रस्ताव होने

१ १।१००।१ ऋग्वेद। १।१७।१ ऋग्वेद। २।१८।१ ऋग्वेद। ९।५३।१ ऋग्वेद। ९।२८।२ ऋग्वेद। ५।१८८।१ ऋग्वेद। ४०।९ यजुर्वेद। ३०।९ यजुर्वेद।

२ तानहमनुराज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठाया रोहामीति।

५।२।८ ऐतरेय ब्राह्मण।

का राज्य-मविधान के अंतर्गत विशेष नियम था। इस सविधान के अनुसार राजपद पर उसकी नियुक्ति होने के लिए प्रस्तावित क्षत्रिय द्वारा राजसूय यज्ञ का विधिवत सम्पन्न होना अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि क्षत्रिय राजसूय यज्ञ करने से राजा बनता है।[1] इस यज्ञ के अवसर पर एक विशेष कृत्य राजा सोम से राजसूय-याजी क्षत्रिय के द्वारा प्रार्थना करने का था। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रार्थना का जो स्वरूप दिया गया है उसका हिंदी भाषानुवाद इस प्रकार है—राजाओं के प्रति सोम राजा इस यज्ञ में मुझे राज्य प्रदान करें।[2] इसके उपरान्त उस राजसूय-याजी क्षत्रिय का राज्याभिषेक राजपद हेतु किया जाता था।

इस प्रकार राजपद हेतु क्षत्रिय का वरण किया जाना उसके द्वारा राजसूय यज्ञ का विधिवत सम्पन्न होना राजा सोम से राजसूय-याजी क्षत्रिय द्वारा राज्यप्राप्ति हेतु प्रार्थना करना, राजपद हेतु प्रस्तावित क्षत्रिय का राज्याभिषेक एवं तदनुसार राजकीय शपथ का ग्रहण किया जाना आदि राज्य सविधान के कतिपय विशेष लक्षण थे। प्रस्तावित क्षत्रिय इस प्रकार राज्यसविधान के अनुसार राजपद ग्रहण करता था और अपने प्रधान प्रजा की सम्यक् रक्षा एवं उसके सम्यक् प्रतिपालन करने के कार्यभार को ग्रहण करता था।

साम्राज्य सविधान—साम्राज्य सविधान के अंतर्गत साम्राज्य का सर्वोच्च शासक अथवा उसका अधिपति सम्राट् कहलाता था। सभी क्षत्रिय सम्राट पद पाने के अधिकारी न थे। इस पद हेतु प्रत्याशी केवल राजाओं में ही कोई राजा हो सकता था। सब राजा भी सम्राट पद हेतु प्रत्याशी होने योग्य न थे। इसलिए वही क्षत्रिय जो राजसूय यज्ञ का विधिवत् सपादन कर राजपद पा चुका था सम्राट पद प्राप्ति हेतु प्रत्याशी होने का अधिकारी था।[3] इसके अतिरिक्त इस सविधान की एक विशेषता यह भी थी कि सम्राट पद पाने का अधिकारी होने के लिए प्रत्याशी राजा द्वारा वाजपेय यज्ञ का विधिवत् सम्पन्न होना अनिवार्य कर्तव्य था। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्यवस्था दी

१ राजा व राजसूयेनेष्ट्वा। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।

२ सोमो राजा राजपति । राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु। ९।३।४।११ शतपथ० ।

३ राज्यम् वाऽअंग्रेऽथ साम्राज्य तस्माद वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत प्रत्य वरोह स यथा सम्राट स राजा स्यात्तादक्तत। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।

गयी है कि वाजपेय यज्ञ सम्राट् पद देता है।[1] वाजपेय यज्ञ के अवसर पर वह राजा वरुण देव से साम्राज्य प्राप्ति हेतु प्रार्थना करता था। इस प्रार्थना का हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—सम्राट्पति वरुण मेरे लिए (वाजपेय-याजी यजमान राजा के लिए) साम्राज्य प्रदान करें।[2] इसके उपरान्त उस यजमान राजा का राज्याभिषेक सम्राट् पद हेतु किया जाता था।

साम्राज्य संविधान के अन्तर्गत एक और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य अनेक राजाओं पर विजय प्राप्ति करने का भी था। वह अपने समकालीन अनेक राजाओं को परास्त कर उन्हें अपने राज्यमण्डल में सम्मिलित कर लेता था परन्तु उन पराजित राजाओं को अपने अधीन न करके उनके राज्य उन्हीं को पुनः कतिपय निश्चित प्रतिबन्धों के आधार पर वापस कर देता था और उन्हें उनके आन्तरिक प्रशासन का पूर्ण अधिकार दे देता था। परन्तु वाह्य सम्बन्ध की दृष्टि से वे स्वतन्त्र नहीं किये जाते थे। पराजित राजा अपने इस विजयी सम्राट के प्रति करदायी होते थे। विशेष अवसरों पर अपने सम्राट के प्रति सम्मान प्रदर्शन सम्राट के समक्ष उपस्थित होने भेंट देने आवश्यकतानुसार धन, जन तथा परामर्श द्वारा सहायता देने एवं युद्ध काल में अपनी अपनी सेना सहित सम्राट की ओर से उसके शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने हेतु प्रस्तुत रहने आदि सम्बन्धी उनके विशेष कर्त्तव्य माने गये थे। इन अधीनस्थ राज्यों में उनके सम्राट द्वारा निश्चित एवं निर्धारित किये गये संविधान के अनुसार प्रशासन की रूपरेखा कार्यान्वित की जाती थी।

इस प्रकार सम्राट सार्वभौम राजा होता था। वैदिक युग के बहुत पश्चात गुप्त युग में समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय के प्रसंग में इसी नीति का पालन किया था और तदनुसार सम्राट पद धारण किया था। प्रयाग शिलास्तम्भ का समुद्रगुप्त-अभिलेख इसका पुष्ट प्रमाण है।[3]

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर साम्राज्य संविधान के महत्त्वपूर्ण लक्षण इस प्रकार थे—राजा ही सम्राट पद का प्रत्याशी हो सकता था राजा अनेक राजाओं को पराजित कर उन्हें अपने राज्य मण्डल के अन्तर्गत कर लेता था और उनके राज्य उन्हें कति-

१ सम्राड् वाजपेयेन। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।

२ वरुण सम्राट सम्राटपति। साम्राज्यमस्मि यज्ञे मयि दधातु। १०।३।४।११ शतपथ ब्राह्मण। ३ समुद्रगुप्त का प्रयाग शिलास्तम्भ अभिलेख।

पर निश्चित एवं निर्धारित प्रतिनिधा के आधार पर पुनः वापस कर देता था। उनकी विदेश नीति अपने अधीन कर लेना, वाजपेय यज्ञ करना एवं वरुण का आदेश सामने रखकर साम्राज्य संचालन करने को वचनबद्ध होना, साम्राज्याभिषेक सम्पन्न कराना आदि सम्राट के महत्त्वपूर्ण विशेष अधिकार थे। इस दृष्टि से वर्णित साम्राज्य संविधान उस युग की राजनीति में विशेष स्थान रखता है। साम्राज्य संविधान अपने समकालीन अन्य संविधानों की अपेक्षा विशेषता-सम्पन्न संविधान था। सम्राट् सम्पूर्ण भुवन का एक मात्र विशेष राजा होता था।

भौज्य संविधान—ऋग्वेद में इन्द्र के विविध गुणों के आधार पर उसे तदनुसार पृथक् पृथक् नामों से सम्बोधित किया गया है। इन्द्र के इन विविध नामों अथवा उसकी विविध उपाधियों में भोज भी एक उपाधि है। इन्द्र देवों का राजा है। उसे भोज उपाधि क्या दी गयी थी इस ओर भी ऋग्वेद में संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर यह ज्ञात होता है कि राजा इन्द्र अपने अधीन प्रजा को भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में सुलभ करने में समर्थ था। इसी आधार पर उसे भोज की उपाधि दी गयी थी।[1] भोज शब्द की निष्पत्ति भुज् धातु से होती है जिसका अर्थ है भोग सामग्री प्रस्तुत करना। इस प्रकार जिस राज्य में राजा अपने अधीन प्रजा के निमित्त उसके भोजन हेतु प्रचुर अन्न, शरीर पर धारण करने के लिए पर्याप्त वस्त्र, उसके रहने के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक एवं सुखकारी आवश्यकतानुसार गृह आदि सुलभ रखने की सम्यक् व्यवस्था करता है उस राज्य के संविधान को भौज्य संविधान कहा गया है। इस प्रकार भौज्य संविधान के आधार पर संगठित राज्य का उद्देश्य राज्य की सम्पूर्ण जनता के लिए उपर्युक्त भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में सुलभ करना था। इस दृष्टि से भौज्य राज्य में भोग सामग्री के सम्यक् उत्पादन, उसके सम्यक् वितरण और न्याय-युक्त उपभोग की स्वस्थ एवं सुखदायी व्यवस्था की संस्थापना होना आवश्यक था। जितने क्षेत्र की जनता के भोजन, वस्त्र, निवासस्थान आदि की स्वस्थ एवं सुखदायी व्यवस्था करने में वह राजा समर्थ होता था उतने क्षेत्र पर ही वह राज्य करने का अधिकारी होता था और इस प्रकार उतने ही क्षेत्र का वह राजा होकर भोज नाम से प्रसिद्ध होता था।

कुछ विद्वानों ने भौज्य राज्य की व्याख्या दूसरी दृष्टि से भी की है। इन विद्वानों

१ ३।४२।१० ऋग्वेद।

के प्रतिनिधि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर है। उनके मतानुसार भौज्य यौगिक शब्द है जो 'भू' और 'ज' द्वारा निष्पन्न है। भू पृथ्वी को कहते हैं। ज का तात्पर्य जन्म लेने से है। इस दृष्टि से भौज्य राज्य ऐसा राज्य होता था जो पृथ्वी की नसगिक मर्यादाओं से परिवेष्टित होता था। उदाहरण के लिए भारतवर्ष है जिसकी सीमाएँ नैसर्गिक है, प्रकृति ने उस विश्व के अन्य भूभागों से पृथक् कर रखा है। इसी प्रकार नेपाल, स्वीटजरलैण्ड आदि हैं। इस प्रकार भौज्य सविधान की उपयुक्त दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं। इन्ही विशेषताओं को दृष्टि में रखकर भौज्य राज्य में प्रशासन किया जाता था। भोजपद पाने के लिए भी राजा को तत्सम्बन्धी विशेष यज्ञ का अनुष्ठान करना पडता था और उसी के अनुसार उसका भोजपद पर राज्याभिषेक भी होता था।

स्वाराज्य सविधान—स्वराट् के अधीन जो राज्य होता था वह स्वाराज्य कहलाता था और उसका सगठन एव सचालन जिस सविधान के अन्तर्गत होता था वह स्वाराज्य सविधान कहलाता था। इसकी विवेचना वदिक राजा की विविध उपाधियो के साथ स्वराट उपाधि के अन्तर्गत की जा चुकी है जो इस पुस्तक के पिछले पृष्ठो पर दी हुई है। पाठक स्वाराज्य सविधान के परिचय हेतु उसे पढ़ लें। यहा पर उसकी विवेचना करना पुनरुक्ति मात्र होगी अत यहा उसे दिया नही गया।

वराज्य सविधान—अथर्ववेद के एक मत्र में सकेत किया गया है कि एक ऐसा भी युग था जब राजा न था। सारी प्रजा स्वय अपनी राज्यव्यवस्था सचालित करती थी। इस मत्रांश का हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—पहले अथवा आदि काल मे (अग्रे) राजा व शासक न था (विराज)।[1] इसका अर्थ यह है कि जनता स्वय अपनी राज्यव्यवस्था का सचालन करती थी। इस श्रेणी की शासन व्यवस्था जिस सविधान के अन्तर्गत होती थी उसे वराज्य सविधान कहते थे।

निरुक्ति की दृष्टि से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वराज्य शब्द की निरुक्ति विगत राजक वराज्य है जिसका अर्थ है राजा रहित राज्य। इस प्रकार व्याकरण के अनुसार भी वराज्य को राजा रहित राज्य के अर्थ में लेना न्याययुक्त होगा। इस प्रकार वराज्य प्रत्यक्ष जनतन्त्रात्मक राज्य था और इसका सविधान वराज्य सविधान कहलाता था।

वराज्य के इस विशेष लक्षण की विवेचना आचार्य कौटिल्य ने स्वप्रणीत ग्रथ-

१ ८।१०।८ अथर्ववेद।

शास्त्र म विशेष रूप से की है। अर्थशास्त्र के एक प्रसग म वराज्य और द्वैराज्य के गुण दोषो की विवेचना की गयी है। इन दोनो राज्यो मे किस राज्य को अपेक्षाकृत अच्छा माना जाय इस विषय म आचार्य कौटिल्य न अपने पूर्व के कतिपय आचार्यों के मत उदधृत करते हुए अपना मत भी दिया है। इन मतो का गम्भीर एव विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त इन दोनों प्रकार के राज्यो के वास्तविक स्वरूप का स्थिर कर लेना सरल हो जाता है। इस प्रसग मे अन्य आचार्यों के मत देते हुए आचार्य कौटिल्य लिखते है—द्वराज्य और वराज्य मे द्वराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है क्योकि एक ही राज्य म दो राजा होने से उन दोनो पक्षो मे पारस्परिक राग-द्वेष से अथवा पारस्परिक सघर्ष के कारण द्वराज्य शीघ्र नाश को प्राप्त होता है।[1] परन्तु वराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके (राज्य के सभी निवासियो के) भोगने योग्य होना है ऐसा आचार्य गण मानते हैं।[2]

इस प्रकार इन आचार्यों के वराज्य सम्बन्धी विचारो की भली भाति विवेचना कर लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वराज्य राजा रहित राज्य था। इस प्रसग मे वराज्य अराजकता का बोधक नही है क्योंकि अराजकता मे सुख और शान्ति एव व्यवस्था नहीं रहती। अराजकता लोकप्रिय नही हो सकती। अराजक भूभाग म राज्य नही होता।[3] परन्तु अर्थशास्त्र के उस प्रसग म दो राज्यो की तुलना की गयी है। आचार्यो ने द्वैराज्य और वराज्य की तुलना करते हुए वराज्य की प्रशसा की है। उन्होने वराज्य के अपेक्षाकृत अच्छा राज्य होने के हेतु भी दिये हैं। उनका मत है कि वराज्य जनता के चित्त के अनुकूल होता है। इस दृष्टि से वराज्य राजा रहित जन प्रिय राज्य के सभी निवासियो के उपभोग की क्षमता रखने वाला राज्य है। दूसरे शब्दो म इस श्रेणी के राज्य मे राज्य की प्रभुता (Sovereignty) का भोग उस राज्य के सभी निवासी करते हैं। इस प्रकार इस श्रेणी के राज्य को प्रत्यक्ष जनतन्त्रात्मक राज्य की सज्ञा देना ही उचित है क्योकि इस श्रेणी के राज्यो म राज्य की प्रभुता का भाग व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह विशेष न करता था परन्तु राज्य के समस्त निवासी उसके भोगने के अधिकारी थे। इसके अतिरिक्त इस श्रेणी के राज्य म प्रशासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा भी नही होता था। समस्त राज्य

१ ६।२।८ अर्थशास्त्र। २ ७।२।८ अर्थशास्त्र।

३ अराजक हि नो राष्ट्रम। ८।६७ अयोध्याकाण्ड, रामायण।

के सभी निवासी एकत्र होकर अपने इस राज्य के सम्यक संचालन में हाथ बटाते थे और सभी के सहयोग से प्रशासन संचालित होता था।

परन्तु आचार्य कौटिल्य ने उपयुक्त आचार्यों के कथित मतों का खण्डन किया है।[1] उन्होंने इन मतों के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करते हुए वैराज्य की अपेक्षा द्वैराज्य को अच्छा राज्य बतलाया है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने कुछ हेतु दिये हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। इस महत्वपूर्ण विषय पर उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—द्वैराज्य का कलह पिता पुत्र अथवा दो भाइयों के मध्य होता है। कलहकारियों का एक ही कुल होने के कारण उनका एक ही स्वार्थ होता है। इसलिए मन्त्रियों द्वारा इसका निर्णय शीघ्र किया जा सकता है।[2] परन्तु वैराज्य को समग्र रूप में छीनकर विजेता राजा उसे अपना न मानते हुए उसका विनाश कर देता है और अपने राज्य में मिला लेता है[3] अथवा उसका विक्रय कर देता है।[4] यदि इस राज्य (वैराज्य) के निवासी उस विजयी राजा के प्रति विरक्त हो जाय तो वह विजयी राजा ऐसे राज्य का त्याग कर चला जाता है।[5]

आचार्य कौटिल्य के उपर्युक्त मत की विवेचना करने के उपरान्त कतिपय तथ्यों तक पहुंच जाना आसान हो जाता है। वे तथ्य इस प्रकार हैं—द्वैराज्य दो राजाओं द्वारा शासित राज्य था। वे दोनों राजा एक ही कुल अथवा कुटुम्ब के सदस्य होते थे। चाहे पिता पुत्र हों अथवा भाई भाई। उनके मध्य होनेवाले कलह का कौटुम्बिक स्वरूप होने के कारण उनके मन्त्रियों द्वारा उसका शमन सरलता से किया जा सकता था। इस श्रेणी के राज्यों पर बाहरी शत्रुओं द्वारा इतनी सरलता से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी जितनी सरलता से वैराज्यों की विजय की जा सकती थी। आचार्य कौटिल्य का मत है कि विजयी राजा वैराज्य को अपना राज्य नहीं समझता था। आचार्य कौटिल्य के इस मत के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि वैराज्य राजतन्त्र अथवा गणतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न राज्य होता था। वैराज्य उसके विजयी राजा के राज्य से भिन्न होता था, इस कारण वह विजयी राजा वैराज्य को अपना न समझ कर उस राज्य को क्षीण कर देता था, अर्थात् उसका उत्पीडन करता था। आचार्य कौटिल्य का यह मत स्वाभाविक है और स्वस्थ एवं दृढ़ हेतुओं पर आधा

१ नेति कौटिल्य ।८।२।८ अर्थशास्त्र। २ ९।२।८ अर्थशास्त्र। ३ १०।२।८ अर्थशास्त्र। ४ ११।२।८ अर्थशास्त्र। ५ १२।२।८ अर्थशास्त्र।

रित है। असमान संविधान के आधार पर संगठित एवं संचालित दो राज्यों में पारस्परिक व्यवहार ऐसा ही होना चाहिए। विजयी राजा अपने अधीन राज्य की शासन-प्रणाली को ही उत्तम समझ कर पराजित राज्य में भी उसे संचालित करने का यत्न किया करता है और इस प्रकार उस विजित राज्य को शासन व्यवस्था की दृष्टि से समान रूप देना अपना प्रधान कर्तव्य समझा करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विजयी राजा विजित राज्य के प्रति समयानुसार क्रूर एवं कठोर व्यवहार भी करने में संकोच नहीं करता है।

आधुनिक युग में भी विश्व के विविध राज्यों में अपना बल बढ़ाने के लिए प्राय इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया जा रहा है। इतिहास इसका साक्षी है। विश्व में प्रत्येक राज्य इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील दिखलाई पड़ता है कि संसार के विविध भू भागों में ऐसे ही राज्यों की स्थापना होनी चाहिए जो शासन प्रणाली की दृष्टि से अपने राज्य की राजनीति के अनुरूप एवं समान हों। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विश्वव्यापी अनेक युद्ध भी होते रहे हैं। पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी सोवियत रूस राज्य में आज पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता एवं गुप चुप कलह के जो चिह्न दिखलाई पड़ रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि इन दोनों राज्यों के संविधानों के सिद्धान्तों में मौलिक असमानता है। इसलिए *आचार्य कौटिल्य के उपर्युक्त मत से स्पष्ट है कि* वैराज्य राजतन्त्रात्मक अथवा नृपतन्त्रात्मक श्रेणी के राज्यों से भिन्न राज्य होता था।

वैराज्य के विषय में आचार्य कौटिल्य ने दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह दिया है कि वैराज्य पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त विजयी राजा उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लेता है। परन्तु आचार्य कौटिल्य ने स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में एक स्थल पर पराजित राजा के प्रति विजयी राजा का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इस विषय में अपना मत व्यक्त किया है जो विजित राज्य को विजेता के राज्य में सम्मिलित किये जाने का निषेध करता है। इस प्रसंग में उनका मत है कि पराजित राज्य की भूमि, द्रव्य पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा कभी अधिकार न करे, परन्तु पराजित राजा के वंशजों को, उनकी योग्यता के अनुसार उचित पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए। यदि युद्ध में पराजित राजा का वध हो जाय तो उस राजा के पुत्र को उसका राज्य या राजपद दे देना चाहिए।[1] परन्तु आचार्य कौटिल्य के इन दोनों मतों

१ ४२-४४।१६।७ अर्थशास्त्र।

में बडा अतर है। इसका समाधान इसी दशा मे हो सकता है जब कि यह मान लिया जाय कि वराज्य जनतत्रात्मक राज्य था वह नपतत्रात्मक अथवा राजतत्रात्मक राज्य न था अन्यथा आचार्य कौटिल्य उस राज्य को विजेता राजा के राज्य मे सम्मिलित किये जाने हेतु व्यवस्था कदापि न देते।

वराज्य के विषय म आचार्य कौटिल्य ने इसी प्रसग मे एक और महत्वपूर्ण बात बतलायी है जो वराज्य की जनता की विरक्ति से सम्बन्धित है। इस विषय मे आचार्य कौटिल्य का मत है कि विजयी राजा के प्रति उसके द्वारा पराजित वराज्य की जनता की विरक्ति हो जाने की सम्भावना रहती है और उसकी यह वृत्ति इस पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है कि उस राज्य पर विजेता राजा द्वारा शासन करना असम्भव हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस राज्य की जनता को विजेता राजा अपने नियत्रण मे ले आने मे असमर्थ होकर उस पराजित राज्य को त्याग देता तथा निराश होकर लौट जाने के लिए बाध्य हो जाता है। इस कथन मे भी इसी सिद्धात की पुष्टि होती है कि वराज्य प्रत्यक्ष जनतत्रात्मक राज्य होता था उस राज्य के शासन के सचालन का सम्पूर्ण कार्यभार जनता धारण करती थी।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण मे जिस वराज्य का उल्लेख है वह जनतत्रात्मक राज्य था और उसका सग ठन एव सचालन प्रत्यक्ष जनतात्रिक सिद्धान्तो के आधार पर निर्माण किये गये वराज्य सविधान के अतर्गत होता था। ऐसे राज्य मे राजा नही होता था और न प्रति निधियो द्वारा ही राज्य शासन होता था। राज्य की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था राज्य के निवासियो के हाथो मे होती थी। यह राज्य क्षेत्र की दृष्टि से छोटा होता था। विशाल क्षेत्र वाले राज्यो मे वराज्य सविधान का सफलतापूर्वक सचालन असम्भव है।

पारमेष्ठ्य सविधान—परमेष्ठि-यज्ञ का विधिवत अनुष्ठान कर लेने के उपरात पारमेष्ठ्य पद के लिए राजा का राज्याभिषेक किया जाता था और इस प्रकार वह पारमेष्ठ्य पद धारण करता था। परमेष्ठी नाम प्रजापति का है। उसी को परमेश्वर भी कहते हैं। पारमेष्ठ्य-सविधान का निर्माण इस प्रकार इस सिद्धान्त को आधार मान कर हुआ था कि सभी पर परमेश्वर का शासन है तथा सभी परमेश्वर के राज्य मे रहते हैं किसी व्यक्ति विशेष के राज्य मे नही। ऐसे राज्य मे राजा केवल जनसेवक के रूप मे रहता हुआ जनकल्याण हेतु शासन करता है। पारमेष्ठ्य सविधान के अत गत सगठित एव सचालित राज्य के प्रधान शासक का एकमात्र **कर्तव्य था** कि वह उस

राज्य म इस प्रकार प्रशासन की व्यवस्था कर जिसस प्राणियो का कल्याण हो सके। शासक और शासित दोना वर्गों म यह भावना जाग्रत रह कि राज्य की सम्पूर्ण चल और अचल सम्पत्ति परमश्वर का है। इसलिए उस पर किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति समुदाय मात्र का अधिकार नहा है। सभी प्राणी अपनी अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार नियमपूर्वक उसके सम्यक् एव न्याययुक्त भोगन क अधिकारी ह, उस पर अपनत्व किसी का भी नहा है। व सभी एक दूसरे के अधिकार की रक्षा करत हुए उसका भाग करन मात्र के अधिकारी समझ जात थे।[1] इसलिए पारमेष्ठ्य राज्य का अधिपति अपने अधीन प्रजा क प्रति वही व्यवहार करे जो कि आदर्श पिता अपन पुत्र के प्रति करता है तथा प्रजा भी अपन राजा के प्रति आदर्श पुत्रवत् रहकर पिता क प्रति जसा आचरण एव व्यवहार होता है उसका अनुसरण कर।

वदिक साहित्य म पारमेष्ठ्य सविधान पर किसी स्थल पर भी प्रकाश नहा डाला गया है। अत इस महत्वपूर्ण विषय पर विशेष सूचना दना सम्भव नहीं है।

माहाराज्य सविधान—जब कोई शक्तिशाली राजा किसी अपन शक्तिशाली शत्रु राजा को परास्त कर उसका वध कर देता था और तदुपरान्त उस शत्रु राजा के राज्य को अपन राज्य म मिला लेता था तब वह महाराज की उपाधि धारण करता था। इस महाराज के अधीन राज्य का माहाराज्य और उस राज्य के सविधान को वदिक भाषा म माहाराज्य सविधान की सज्ञा दी गयी है। इस प्रकार माहाराज्य के अधीन विशाल भूभाग होता था। इस श्रेणी के राज्य स्वभावत विशाल होते थे। क्षेत्र विस्तार की दृष्टि स राज्य अथवा वराज्य की अपेक्षा माहाराज्य विशाल होत थ। माहाराज्य के विशेष लक्षणो का उल्लेख इसी पुस्तक के अध्याय छ के अन्तर्गत किया जा चुका है। अत उन्ही तथ्यो का उल्लेख यहा किया जाना उसकी पुनरुक्ति मात्र होगी। इसलिए माहाराज्य सविधान के विशेष परिचय हेतु पाठक उसी स्थल म वर्णित विषय-वस्तु का अध्ययन कर लें।

आधिपत्य सविधान—वदिक भाषा म पति श द का प्रयोग पालन करन वाले क अर्थ म हुआ है। इसलिए अधिपति का तात्पर्य राज्य के प्रशासनाधिकारियो स था। इस प्रकार आधिपत्य सविधान के अधीन जिस राज्य का सगठन एव सचालन होता था उसका शासन भार अधिपतियो के हाथ म रहता था। इस प्रकार के राज्यो को समझने

१ १।४० यजुर्वेद।

के लिए आधुनिक 'अधिकारीतंत्र (Bureaucratic State) सरकार युक्त राज्य का अध्ययन करना आवश्यक है। सम्भवत आधिपत्य राज्य आधुनिक युग के अधिकारी-तंत्र राज्यो के समकक्ष राज्य रहा होगा। इस श्रेणी के राज्यो म अधिपतियो अथवा अधिकारी वग क हाथ म शासन की डोरी रहती थी।

स्वावश्य राज्य सविधान—वदिक साहित्य म स्वावश्य राज्य अथवा उसके सविधान क विषय म किसी प्रसग पर अल्प मात्रा म भी प्रकाश नही डाला गया है। इसके साथ ही वदिक युग के उपरान्त के इतिहास म भी उसका उल्लेख नही मिलता है। अत स्वावश्यराज्य-सविधान के विषय पर प्रकाश डालना सम्भव नही। सम्भव है एस राज्य कुल राज्य के रूप म रह हो जिनम सम्पूण कुल स्वय अपनी राज्य व्यवस्था सचालित करता था। स्वावश्य का अथ है अपन वश म।

विधि

वदिक सहिताओ म कतिपय ऐस सकेत उपलब्ध होत है जिनसे ज्ञात होता है कि वदिक आय राज्यो म विधि का उदय हो चुका था और जन-जीवन म उसका विशष महत्व था। ऋग्वद क एक प्रसग म सम्पत्ति क उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि की ओर सकेत उपलब्ध है। इस प्रसग म ऋग्वद म पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका नाती (पुत्री का पुत्र) होना है उसकी पुत्री नही, ऐसा लक्षित किया गया है। यदि पुत्र और पुत्री दोनो हो तो पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होगा पुत्री नहो। पुत्री कवल विभूषित होकर विवाहित हो जाने की अधिकारिणी होती है। इस तथ्य की पुष्टि म ऋग्वद क दो मत्रो का भावानुवाद यहा दिया जा रहा है जो इस प्रकार है—पुत्री क विवाहिता हो जान के उपरान्त उसका पिता पुत्री क गभ स उत्पन्न नाती को (नप्त्य) प्राप्त करता है। इस प्रकार जानकर सत्य की (ऋतस्य) व्यवस्था का आदर करता हुआ पुत्री का पिता अनुशासन कर जिसस (दुहितु पिता) सचन से प्राप्त पुत्र का प्राप्त करता हुआ सुखी चित्त से (मनसा) मान ले (सदधत)। (यदि पिता मर जाये और उसक पुत्र और पुत्री दोनो हो तो) भाई अपनी बहन को अपने पिता की सम्पत्ति प्रदान न करे (न आरक्), बहन को भोक्ता (पाणिग्रहीता) पति स गभ धारण योग्य बनाये। यदि माता पिता (मातर.) पुत्र और पुत्री दोनो का जनन करें तो ऐसी दशा म भी पुत्र ही पिता के लिए पुण्य कृत्य

१ ३।३१।३ ऋग्वेद।

(सुकृते) करने वाला होता है (कर्त्ता) पुत्री केवल सुविभूषित कर दी जाती है।[१]

ऋग्वेद के उपयुक्त मन्त्रो के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदीय आर्य राज्यो मे विधि का उदय हो चुका था और वैदिक आर्य उसके महत्व को समझने लगे थे। अथर्ववेद मे भी इस विषय की ओर सकेत पाये जाते हैं। अथर्ववेद के एक सूक्त मे समाज मे ब्राह्मण की उत्कृष्टता का वर्णन है। इस वर्णन मे ब्राह्मण के कतिपय विशेष अधिकारो का उल्लेख है। ब्राह्मण के इन विशेष अधिकारो की रक्षा का भार राज्य पर था। ब्राह्मण को इन विशेष अधिकारो मे उस कर मुक्ति का विशेषाधिकार भी प्राप्त था।[२] ब्राह्मण के घातक को मृत्युदण्ड की व्यवस्था दी गयी है।[३] परन्तु इस व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने के लिए उसका विधि के रूप मे आ जाना आवश्यक था। इसलिए अथर्ववेद की इन व्यवस्थाओ ने राज्य के विधि-सग्रह मे स्थान अवश्य पा लिया होगा। इस प्रकार वैदिक युग के राज्यो मे विधि एव उसके निर्माण की सम्यक व्यवस्था का उदय हो गया था।

वैदिक आर्य राज्य मे विधि का विशेष महत्व था इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि वैदिक आर्य राजा विधि रक्षक बतलाया गया है। वैदिक भाषा मे धर्म शब्द का प्रयोग विधि (Law) के स्थान मे हुआ है। वैदिक संहिताओ मे राजा को वरुण की उपाधि दी गयी है। इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वरुण धर्मपति (Protector of Law) है। इसलिए वरुण देव के अश को धारण कर राजा भी धर्मपति अथवा धर्मरक्षक (विधिरक्षक) बन जाता है और इस प्रकार राजा धर्मरक्षक अर्थात विधिरक्षक है।[४] इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य राज्यो मे विधि का विशेष आदर एव महत्व था और राजा विधिरक्षक होता था। उसके अधीन राज्य मे विधि के अनुसार प्रशासन होता था। विधि की रक्षा मे असमर्थ राजा निन्दनीय समझा जाता था और वह पदच्युत एव पदभ्रष्ट किये जाने योग्य हो जाता था।

विधि निर्माण के साधन

वैदिक युग मे विधि निर्माण कार्य आधुनिक युग के विधि निर्माण कार्य से नितान्त

१ २।३१।३ ऋग्वेद। २ ३।१९।५ अथर्ववेद। ३ १४।१९।५ अथर्ववेद।
४ १६।१० यजुर्वेद। ५ ९।३।३।५ शतपथ ब्राह्मण।

भिन्न था। वदिक आय राज्य म विधि निर्माण काय किसी ऐसी सभा अथवा परिषद द्वारा नही होता था जिसम राज्य के निवासिया के सभी वर्गों, सभी दलो सभा उप जातियो आदि के प्रतिनिधि विधि निर्माण काय हेतु एकत्र होते हो या जिसम राज्य के निवासियो के सभी हितो का प्रतिनिधित्व एक साथ होता हो और इस प्रकार उस सभा अथवा परिषद् म राज्य क सभी निवासियो का प्रतिनिधित्व प्रत्यक्ष दृष्टि स यथा सम्भव समिलित हो। इस प्रकार सगठन की दृष्टि से वदिक आय राज्यो म विधि निर्माण काय की योजना का अपना विशेष स्थान एव महत्व था। इस दृष्टि से वदिक आय राज्यो के विधि निर्माण काय और आधुनिक राज्यो के विधि निर्माण काय म बहुत बडा एव उल्लेखनीय अन्तर पाया जाता है।

वदिक साहित्य म इस विषय की जो सामग्री आज हम उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि वदिक आय राज्यो म विधि निर्माण के दो मुख्य साधन थे जिन्हे आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार आश्रम विधि निर्माण केन्द्र और स्थानीय विधि निर्माण केन्द्र की सज्ञा देना उचित होगा। इस प्रसग म विधि निर्माण के इन दोनो साधनो का यथासम्भव परिचय यहा दिया जायगा।

आश्रम विधि निर्माण केन्द्र—आश्रम विधि निर्माण का उद्देश्य प्राणी मात्र के कल्याण हेतु विविध प्रकार की विधि का निर्माण करना था। यह काय ऐहिक सुख से परिपूर्ण नगरो म सम्पन्न होना सम्भव नही समझा गया था। इस काय के सम्पादन हेतु सघन वनो पवतो की कन्दराओ मे और नदियो के तटो पर स्थित अनेक आश्रम समय समझे गये थे। यजुर्वेद[१] के अनुसार ऐसे आश्रम विविध प्रकार के ज्ञान के स्रोत होते थ। इसलिए ये आश्रम ही आश्रम विधि निमाण के केन्द्र थे। मानव जीवन की अनेक समस्याओ पर इन आश्रमो मे लोक कल्याण म लीन वीतराग ऋषियो द्वारा चिन्तन एव मनन किया जाता था और उनके चिन्तन एव मनन के आधार पर उनके उपायो एव साधनो की खोज की जाती थी। इन समस्याओ के हेतु जिन उपायो एव साधनो की इस प्रकार खोज कर ली जाती थी उनका उपयोग सव प्रथम इन्हा आश्रमो म कर लिया जाता था। जब सम्बन्धित ऋषि का विश्वास हो जाता था कि जीवन सम्बन्धी अमुक सिद्धान्त इस प्रकार किये गय उनके प्रयोग द्वारा, सत्य एव जनहितकारी सिद्ध हो चुका है तब वे अपने उस अनुभूत प्रयोग को सवसाधारण

१ उपह्वरे गिरीणा सगमे च नदीनाम। धियो विप्रो अजायत।१५।२६ यजुर्वेद।

तत्व पहचानने का सतत प्रयास करते थे। इस प्रकार से वे जीवन सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्माण करते थे, जिससे सम्बन्धित प्राणी इन नियमों के अनुसार आचरण कर अपनी जीवन सम्बन्धी समस्या का समाधान करने में सफल हो सकें। समय आने पर यही नियम विधि का रूप धारण कर लेते थे और वैदिक आर्य राज्य इन विधियों के अनुसार अपने अधीन प्रजा को आचरण करने के लिए बाध्य करने लगता था। इस प्रकार उक्त राज्य का राजा विधिरक्षक (धर्मपति) बनकर उनकी रक्षा करता रहता था। इस दृष्टि से ये आश्रम विधि निर्माण केन्द्र अथवा प्रगतिशील विधि निर्माण के स्रोत बने रहते थे। विधि निर्माण के इन केन्द्रों अथवा स्रोतों से विधि निर्माण धारा निरन्तर प्रवाहित रहती थी। विधि निर्माण के इस साधन अथवा विधि स्रोत को आधुनिक राजनीतिक भाषा में आश्रम विधि निर्माण केन्द्र अथवा स्रोत की संज्ञा देना न्यायोचित होगा।

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हेतु वैदिक संहिताओं में अनेक संकेत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अन्तर्गत आये हुए जो दो मंत्र एवं अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के अन्तर्गत उपलब्ध जो मंत्र ऊपर उद्धृत किये गये हैं और जो क्रमशः सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं ब्राह्मण के विशेषाधिकार के विषय में हैं वे आश्रम विधि निर्माण केन्द्र की ही उपज हैं। ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र विश्वामित्र ऋषि के नाम से हैं, इससे स्पष्ट है कि पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका नाती (पुत्री का पुत्र) होता है पुत्री नहीं, इस विधि का जन्मस्थान विश्वामित्र आश्रम था। भारतीय समाज में यह विधि अबाध रूप से वैदिक युग से निरन्तर सक्रिय रही। वर्तमान भारतीय गणतन्त्र शासन काल में इस पुरातन विधि में संशोधन कर पुत्री को भी अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मान लिया गया। ब्राह्मण के विशेषाधिकार सम्बन्धी विधि, जिसका उल्लेख ऊपर है वह मयोभू ऋषि के आश्रम की देन है। इसी प्रकार ब्राह्मण के विशेषाधिकार भी समय व्यतीत होने के साथ-साथ अनुकूल परिस्थिति के आने पर अन्त हो गया।

वैदिक युग में अनेक ऐसे ऋषि हुए हैं जिन्होंने आश्रम में जीवन व्यतीत कर मानव जीवन के सम्यक् संचालन हेतु विविध नियमों का निर्माण किया है। इन आश्रमवासी ऋषियों में प्रजापति, नारायण, गृत्समद, दीर्घतमा, विश्वामित्र, गौतम, उशना, भरद्वाज आदि अगणित ऋषि हुए हैं जिन्होंने आश्रमवासी बनकर मानव जीवन की जटिल से जटिल समस्याओं पर मनन एवं चिन्तन किया था और अपने इस मनन और

चिन्तन के आधार पर इन समस्याओ के निराकरण हेतु जीवन सम्बन्धी उपयोगी नियमो का निर्माण किया था। इनम कुछ नियमो को राज्य ने मान्यता द दी थी और वे तन्नुसार ही उस राज्य म विधि बन गये थे।

इस प्रकार वदिक आय राज्यो म इन ऋषि आश्रमो न विधि निर्माण के साधनो अथवा स्रोतो का स्थान ग्रहण कर लिया था। इन आश्रम विधि निर्माण केन्द्रो म उन विधियो का निर्माण होता रहा है जिनका प्रभाव व्यापक था और प्राणिमात्र के कल्याण म निहित था। इन विधि निर्माण केन्द्रो की सबसे महान् देन दलबन्दियो क कुप्रभाव स मुक्त एव प्राणिमात्र के कल्याणयुक्त निष्पक्ष तथा स्वार्थरहित विधि का निर्माण करना था। आधुनिक युग की विधिपालिका का सगठन जिस रूप म होता है उसम यह विशषता होना सम्भव नही है। आधुनिक विधिपालिका दलबन्दी के कुप्रभावो स सुरक्षित नहा रह सकता, इसलिए इसके द्वारा निमित विधि भी उक्त कुप्रभावो स बच रहन म असमथ हो जाती है। इस दष्टि स वदिक युग म ऋषि आश्रमो म जन्म लेन वाली ऋषि प्रणीत विधि आदश विधि की श्रेणी म परिगणित की जा सकती है। परन्तु इसके साथ ही यह मा सत्य है कि इस श्रेणा की विधियो कभी-कभी अव्यावहारिक सिद्ध हो सकती है। इन विधियो के निर्माता जन-सम्पक म कम आते थे। अत ऐसा होना स्वाभाविक है। इसलिए इन आश्रमवासी ऋषियो द्वारा जीवन सम्बन्धी जो नियम बनाय जात थे उनम सभी नियमो का अपनाना सम्भव न था। अत उन नियमो के इन अव्यावहारिक अशो को छोडकर अवशेष अशो को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती थी और इस प्रकार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त नियम राज्य म विधि का रूप धारण कर लेते थे।

स्थानीय विधि निर्माण केन्द्र—मनुष्य के जीवन का कुछ अश स्थानीय परिस्थितियो स आबद्ध रहता है। स्थानीय जल-वायु, भूमि, लोगो के आचार विचार उनके समाज का जीवन स्तर आदि एसे विषय है जो मनुष्य के समक्ष, समय समय पर, स्थानीय समस्याएँ उपस्थित करते रहते हैं। इन स्थानीय परिस्थितियो के कारण मानव जीवन अनेक स्थानीय सस्थाओ के अन्तगत विभक्त हो जाता है। इसीलिए वदिक आर्यों के जीवन का कुछ अश अनेक स्थानीय सस्थाओ के अन्तगत आबद्ध होकर स्थानीय प्रभावो स विशेष प्रभावित होता रहता था। इन स्थानीय सस्थाओ मे कुल महत्वपूर्ण सस्था थी।

कुल विधि निर्माण केन्द्र—वदिक आय कुलो मे विभक्त थे। प्रत्येक कुल

विशेष प्रकार के जीवन को स्थिर रखने म अपना गौरव समझता था। अपने कुल की इस विशेषता को चिरस्थायी बनाने के लिए कतिपय विशेष नियमा के निर्माण करने और उनका सक्रिय रखने की आवश्यकता होती थी। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु नियमों का निर्माण किया जाता था जो कुलाचार के नाम से प्रसिद्ध होते थे। समय के साथ साथ यही कुलाचार प्रथाओ एव परम्पराओ म परिणत होकर परम पुनीत बन जाते थे। इनका उल्लघन घोर पाप समझा जाता था। प्रत्येक प्रकार से इनकी रक्षा हेतु व्यवस्था की जाती थी। राज्य इन कुल प्रथाओ एव परम्पराओ को मान्यता देता था और इस प्रकार से राज्य की विधि का रूप धारण कर लेती थीं। इस प्रकार आय राज्या म कुल प्रथाए एव कुल परम्पराएँ विधिस्रोत या और यही कुल विधि निर्माण केन्द्र थे।

आय जनवगविधि निर्माण केन्द्र—ऋग्वद के पुरुषसूक्त मे समाज के निर्माण की प्रक्रिया का भी वणन है। इसके अनुसार समाज के निर्माण का आधार काय विभाजन सिद्धान्त है। आय लोगा के समाज का निर्माण इसी सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने क लिए हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार आय लोगा को चार मुख्य वर्गो म विभाजित किया गया है। ये चार वग समय व्यतीत होने के साथ साथ विकास को प्राप्त हो गये और चार वर्गा के रूप म आय जनता म प्रस्तुत हुए। ऋग्वद के अनुसार आय जन का यह विभाजन ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र नाम के वर्गो म हुआ था। इन चारो वर्गो क लोगा के जीवन की रूपरेखा किन्ही अशा मे विशेषता पूण थी। प्रत्येक वग क इस विशेष जीवन स्तर को चिरस्थायी बनाने के लिए इनके कुछ नियम थे जिनका उल्लघन नही किया जा सकता था। राजा इन नियमो मे परिवतन करने का अधिकारी न था। वह इन नियमा का पालक मात्र था। इस प्रकार ये नियम भी राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेते थे और तदनुसार विधि का रूप धारण कर लेते थ। इस प्रकार वदिक युग मे आय लागो क वग भी विधि निर्माण के केन्द्र थे।

इस प्रकार वदिक युग म स्थानीय सस्थाए स्थानीय प्रथाए परम्पराएँ आदि स्थानीय विधि निमाण केन्द्र थे।

वदिक विधिपालिका के काय

वदिक विधिपालिका (विधि निर्माण केन्द्र) का एकमात्र काय राज्य के निवासिया के निमित्त समय की प्रगति के अनुसार (दश काल और परिस्थिति को ध्यान म रखते हुए) विधि निर्माण करना एव प्राचीन अनुपयोगी तथा काल-बाधित विधियो को अपन्थ्य

करना और इस प्रकार राज्य म विधियो को अनुपयोगी एव काल-बाधित हो जाने से सुरक्षित रखते हुए लोक-कल्याणयुक्त बनाये रखना था। इस प्रकार वैदिक युग म विधिपालिका विधि निर्माणकारी, विधि संशोधक तथा अनुपयुक्त एव अनावश्यक विधियो को अपदस्थ करने वाली संस्था थी।

आधुनिक युग म भी विधिपालिका इस महत्वपूर्ण काय का सम्पादन करती है। परन्तु आधुनिक विधिपालिका के कर्तव्य क्षेत्र की सीमा का अन्त यही पर नहीं हो जाता। उसे अन्य महत्वपूर्ण काय भी करने पडते है। सामयिक राजनीति पर वाद विवाद करना और उस वाद विवाद के आधार पर राज्य की आन्तरिक एव बाह्य नीति का निर्धारण करना भी *आधुनिक राज्यों की विधिपालिका के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत* परिगणित किया गया है। वाद विवादो एव वक्तव्यो द्वारा राज्य की विविध नीतियो का संतुलन करना एव विविध प्रकार के विरोधो का हेतुओ द्वारा शमन कर परस्पर समझौता कराना भी इसी का काय निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय वित्त के संचय के साधन, उसकी वृद्धि के उपायो तथा उसके सम्यक व्यय की योजना आदि का प्रस्तुत करना एव उन्हें स्वीकार करना विधिपालिका के ही कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है। राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय ऋण, राष्ट्रीय व्यय आदि की योजनाए भी विधिपालिका द्वारा ही स्वीकृत होती है। आधुनिक विधिपालिका का एक और महत्वपूर्ण काय, दायित्वपूर्ण सरकार के रूप मे मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना एव उसे नियन्त्रण म रखना होता है। विधिपालिका अपने सदस्यो पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। उनके विरुद्ध लाये गये आरोपो को सुनती है और उन पर अपना निर्णय देती है आदि ऐसे काय है जो आधुनिक विधिपालिका के कार्यक्षेत्र की सीमा म आते हैं।

परन्तु वैदिक युग म विधिपालिका इन कार्यो के उत्तरदायित्व स मुक्त समझी जाती थी। विधि निर्माण करना और विधि को लोकोपयोगी एव समय की प्रगति तथा माग के अनुकूल बनाये रखना मात्र काय वैदिक विधिपालिका के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निर्धारित किया गया था।

अध्याय ८

राज्य के उच्च कार्यकर्ता

राज्य में कार्यकर्ताओं की आवश्यकता

राज्य संचालन महान कार्य है। उसके सम्यक संचालन हेतु अकेला राजा पर्याप्त नहीं होता। इस काम के विधिवत् सम्पादन हेतु विविध ज्ञान-सम्पन्न अनेक पुरुषों के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता होती है। ये पुरुष अपनी विशेष योग्यता विशेष गुणों, अनुभव एवं कार्य कौशल के अनुसार राज्य-संचालन में राजा का हाथ बँटाते रहते हैं। राज्य संचालन हेतु राज्य में कार्यकर्ताओं की कितनी महान् आवश्यकता है इस विषय में वैदिक युग से बहुत पश्चात् राजशास्त्र के विचारकों ने मत व्यक्त किये हैं। इस महत्व-पूर्ण विषय पर मनु ने कहा है— जब कि सरल से सरल कार्य भी अकेला पुरुष सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता तो विशेष फल देने वाले राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला मनुष्य सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकता है।[1] प्रमुख राजशास्त्र प्रणेता महात्मा भीष्म ने भी इस विषय पर अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है— सम्पूर्ण सद्गुणों से सम्पन्न एक ही व्यक्ति हो ऐसा सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में राज्य के सम्यक संचालन हेतु राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह विविध विषयों के ज्ञाता एवं अनुभवी अनेक गुणी पुरुषों का सहयोग ले एवं परामर्श करे।[2] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी इन्हीं मतों की सम्पुष्टि की है— कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो परन्तु एकमात्र मनुष्य के द्वारा उसका विधिवत सिद्ध होना असम्भव है। जब छोटे से छोटा कार्य अकेला मनुष्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं है तो फिर असहाय मनुष्य से राज्य-संचालन जैसा विशाल कार्य किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा।[3] मौर्य युग के प्रमुख राजशास्त्र प्रणेता आचार्य कौटिल्य ने राज्य की समता दो पहियों वाली गाडी से की है। इस गाडी में राजा केवल एक पहिया है। गाडी का दूसरा पहिया राजा के सहयोगी कार्यकर्ता होते हैं। जिस प्रकार

१ ६, ७१५।३ अथर्ववेद। २ ३।७।१ तैत्तिरीय ब्राह्मण।
३ १।१।३।५ शतपथ ब्राह्मण।

गाड़ी का एक पहिया मार्ग पर नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य-संचालन कार्य एक-मात्र राजा द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके सम्यक संचालन हेतु राजा के सहयोगी कार्यकर्त्ताओं की नितान्त आवश्यकता होती है।[1] इस प्रकार राज्य संचालन हेतु विविध गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न अनेक अनुभवी कार्यकर्त्ताओं के सक्रिय सहयोग की परम आवश्यकता है।

कार्यकर्ता विषयक सामग्री

वैदिक संहिताओं में इस प्रकार की सामग्री अति अल्प है जिसके आधार पर वैदिक राज्य के कार्यकर्त्ताओं के विविध पदों, कर्त्तव्यों एवं अधिकारों कार्यविधि तथा कार्यक्षेत्र आदि के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया जा सके। परन्तु यत्र-तत्र कतिपय ऐसी प्रार्थनाएँ प्राप्त हैं जिनमें वैदिक देवों से विविध प्रकार की याचनाएँ की गयी हैं। इन प्रसंगों में देवों के गुण गान करते हुए कहीं-कहीं उनका राज्य के कतिपय कार्यकर्त्ताओं के रूप में वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों का अध्ययन करने के उपरान्त वैदिक आर्य राज्य के कतिपय कार्यकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय किसी अंश तक मिल जाता है।

उपर्युक्त अति अल्प एवं संकीर्ण सामग्री के अतिरिक्त इस विषय की कुछ और भी सामग्री है जो वैदिक साहित्य में राजा के राज्याभिषेक के विविध कृत्यों के वर्णन में पायी जाती है। इन कृत्यों में राज्य के कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख है। इन विशिष्ट व्यक्तियों को राजकर्त्ता नाम से सम्बोधित किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन विशिष्ट व्यक्तियों की कृपा एवं उनके सहयोग से भावी राजा राजपद प्राप्त करता था। इन्हें रत्निन भी कहते थे। राजा की मन्त्रिपरिषद का मुख्य स्रोत वैदिक संहिताओं में उल्लिखित यही विशिष्ट व्यक्ति वैदिक रत्निन होते थे।

अथर्ववेद में ये पांच राजकर्ता बतलाये गये हैं[2]—रथकार, कर्मार (शिल्पी), सूत, ग्रामणी और राजगण। राजगण का तात्पर्य भावी राजा के जिसके अभिषेक का प्रस्ताव है कुटुम्बी गण तथा अन्य राजगण से जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह संख्या बढ़कर बारह हो गयी, जो इस प्रकार है—ब्राह्मण (पुरोहित), राजन्य, महिषी वावाता परिवृक्ति सूत, सेनानी ग्रामणी क्षत्रिय संगृहीता, भागदुघ और अक्ष

१ मत्रायणी संहिता। २ ६,७५।३ अथर्ववेद।

था।[1] परन्तु कुछ विद्वान् राजन् का तात्पर्य उस व्यक्ति से लेते हैं जिसका अभिषेक हो चुका है। इस मत के अनुसार उक्त सूची में राजन् को पृथक् कर केवल ग्यारह रत्नियों मान जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस सूची के दो नामकरण और बढ़ा दिए हैं। वे हैं गोविकर्तन और पालागल। मैत्रायणी संहिता में दो रत्नियों का और वृद्धि की गयी है जो तक्षा और रथकार हैं।[2] पञ्चविंश ब्राह्मण में [illegible] दिया गया है। इनके बिना शासक का राज्याभिषेक हो सकता है उनमें भ्राता, पुत्र, पुरो-हित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता और संगृहीता हैं।[3]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर वैदिक राज्य के रत्नियों का यथा-सम्भव परिचय प्राप्त किया जायगा। शतपथ ब्राह्मण में उपर्युक्त रत्नियों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है जिन्हें राजकीय और अराजकीय रत्नी नाम से सम्बोधित किया गया है (राजानो रत्निनः और अराजानो रत्निनः)। प्रथम श्रेणी के रत्नी राजकीय व्यक्ति थे जो राजकीय परिवार अर्थात् राजा का भ्राता, महिषी, राजा का पुत्र और क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसका राज्या-भिषेक होने जा रहा है। राजा के राजकीय परिवार का क्षत्रिय गण राजा की पत्नियाँ महिषी[4], राजा की प्रिय पत्नी वावाता और त्यागी हुई पत्नी की परिवृक्ता नाम से सम्बोधित किया गया है। उपर्युक्त राजकीय रत्नियों को अनुकूल रखने की आवश्यकता इस लिए थी कि ये लोग राजघराने के होने के कारण प्रायः राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र न रचें और इस प्रकार रचित षड्यन्त्र के कारण उसके राज्याभिषेक में विघ्न न पड़ जाय। 'अराजानो रत्निनः' अर्थात् अराजकीय रत्नियों का यथासम्भव परिचय इस प्रकार है—

(१) ब्राह्मण अथवा पुरोहित—राजा के धार्मिक कृत्य करने वाला ब्राह्मण पुरो-हित कहलाता था। वह राजगुरु होता था और समय समय पर आवश्यकतानुसार परा-मर्श एवं मन्त्रणा देता था, पुरोहित राजा के साथ युद्ध के समय भी रहता था और उसकी विजय हेतु प्रार्थना करता था। राजा का सबसे अधिक हितचिन्तक पुरोहित माना

१ ३।७।१ तैत्तिरीय ब्राह्मण।
२ १।१।३।५ शतपथ ब्राह्मण।
३ ४।१।१९ पञ्चविंश ब्राह्मण।
४ ५।६।२ मैत्रायणी संहिता।
५ १८।२।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।
६ ४।६।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।
७ ४।६।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।

जाता था। पुरोहित शब्द की व्युत्पत्ति करत हुए यास्काचाय न निरुक्त म लिखा है—'पुर एन दघति, होत्राय वृत ।'[1]

कसा ब्राह्मण राजा का पुराहित हाना चाहिए इस विषय म ऐतरय ब्राह्मण म बतलाया गया है कि जा ब्राह्मण तान पुरोहिता और उनक तीन पुरोधाताम्रा का पूण नाता हा, वह राजा का पुराहित हाना चाहिए। ये तान पुरोहित अग्नि, वायु और आदित्य मार उनक क्रमश तान पुराधाता पृथिवा, अन्तरिक्ष और द्यौ है। राजा क लिए पुरोहित का आवश्यकता व्यक्त करत हुए एतरय ब्राह्मण म बतलाया गया है—जिस राजा का एसा ब्राह्मण राष्ट्र का रक्षक पुरोहित हाता है दूसरे राजा गण उस राजा क मित्र बन जात है और वह अपन शत्रुमा को जात लता है। वह क्षत्र स क्षत्र का भ्रार बल स बल को जीत लता है। जिस राजा का एसा राष्ट्ररक्षक ब्राह्मण पुराहित हाता है उसकी प्रजा (विश) उसका निरन्तर एव एकमत होकर नमन करती है।[2]

(२) सेनानी—राज्य को स्थाया बनान एव उस बाह्य तथा आन्तरिक मया स सुरक्षित रखन के लिए सना नितान्त आवश्यक है। राज्य क विरुद्ध बाह्य आक्रमणा एव आन्तरिक उपद्रवा स राजा और प्रजा का रक्षा करन के लिए सना का सगठन किया जाता है। यह सना एक विशप पदाधिकारी क अधीन रहती है। वदिक आय राज्या म भा सना का सगठन किया गया था और उस एक सर्वोच्च पदाधिकारा की दख रेख म रखा जाता था। सेना का यह सवोच्च अधिकारा सनाना कहलाता था। वदिक आय राजा क रत्ना म सनाना सर्वोच्च रत्न था। भावा राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ क अवसर पर राजा सनानी क निमित्त सवप्रथम आहुति दता था। प्रस्तावित राजा की नियुक्ति म उसका महत्वपूण स्थान हाता था। ऋग्वद क नवें मण्डल क एक सूक्त म साम का राजपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। साम राजा शत्रु विजय हेतु अपनी सना क साथ शत्रु स गौएँ प्राप्त करन क लिए रणस्थल की ओर गमन करत हुए वर्णित है। इस अवसर पर उसकी सना के आग आगे सनानी इस सेना का सचालन करता हुआ, उत्साह एव उल्लास के साथ गमन करता हुआ दिखलाया गया है। उसका सना भी अपन सेनानी क अधीन हर्षोल्लास पूवक पीछ-पीछ गमन करती हुई वर्णित है।[3]

१ १२।२ यास्काचायकृत निरुक्त। २ २७।५।८ ऐतरेय ब्राह्मण।
३ ११९।९ ऋग्वेद।

यजुर्वेद में एक स्थल पर सेनानी वर्ग में रुद्र की स्तुति की गयी है। इस स्तुति का भाव इस प्रकार है—'ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त अथवा चमचमाते हुए बाहुग्गार धारी, सेनानी रथधारी रुद्र को नमस्कार है।'[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में कई प्रसंगों में सेनानी का उल्लेख है। यजुर्वेद के एक प्रसंग में सूर्य का वर्णन राजा के रूप में है। इस प्रसंग में उनका सेनानी उनके रथ के अग्रभाग में आसीन वर्णित है।'[2]

इस प्रकार वैदिक प्राय राज्यों में सेनानी नाम का पदाधिकारी राज्य का सर्वोच्च सैनिक अधिकारी और राज्य के उच्च कार्यकर्ताओं में प्रमुख था। सेनानी-पद आधुनिक काल के सेनापति-पद के समान था।

(३) ग्रामणी—वैदिक प्राय राज्यों के उच्च कार्यकर्ताओं में ग्रामणी का स्थान भी सेनानी के समान ही महत्वपूर्ण होता था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सूक्त में दक्षिणा के महत्व का वर्णन है। इस सूक्त में दक्षिणा देने से दाता पुण्यभागी बनता है, उसे यश प्राप्त होता है, उत्सव एवं समारोहों में वह प्रथम आमन्त्रित किया जाता है, यह राजपद प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है आदि शब्दों में दक्षिणादाता की प्रशंसा की गयी है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि दक्षिणादाता ग्रामणी पद पाता है।[3] ऋग्वेद के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक प्राय राज्यों में ग्रामणी पद विशेष महत्वपूर्ण एवं सम्मानित पद था। यजुर्वेद में भी ग्रामणी पद विशेष महत्वपूर्ण एवं सम्मानित बतलाया गया है। उसमें कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें सेनानी और ग्रामणी का उल्लेख साथ साथ है।[4] इससे यह अनुमान होता है कि ग्रामणी पद भी सेनानी पद के समान ही वैदिक प्राय राज्यों में महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित होता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में वैदिक राज्यों के विविध व्यवसायियों शिल्पियों कार्यकर्ताओं आदि का संकेत रूप में उल्लेख है। इसी प्रसंग में ग्रामणी की ओर भी संकेत मिलता है। इस संकेत में ग्रामणी को सम्मान का पात्र बतलाया गया है।[5] यजुर्वेद में कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि युद्धकाल में ग्रामणी भी सेनानी के साथ रथ में आसीन होकर सेना के अग्र भाग में रहता हुआ आगे आगे गमन करता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ग्रामणी असैनिक और सैनिक दोनों प्रकार का संयुक्त पदाधिकारी था जिसके सैनिक और असैनिक दोनों श्रेणी के कर्तव्य थे।

१ १७।१६ यजुर्वेद। २ १५।१५ यजुर्वेद। ३ ५।१०७।१० ऋग्वेद।
४ १५ से १९।१५ यजुर्वेद। ५ २०।३० यजुर्वेद।

अथर्ववेद में ग्रामणी वैदिक राजा के रत्नों में एक महत्वपूर्ण रत्न बतलाया गया है। अथर्ववेद के इस प्रसंग में, प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पर्णमणि को सम्बोधित करता है—हे पर्ण! ग्रामणी को मेरा सहायक बना।[1] ब्राह्मण ग्रंथों में भी ग्रामणी राज्य के उच्च कार्यकर्ता के रूप में वर्णित है।

ग्रामणी पद का वास्तविक अर्थ ग्रामनेता अथवा जनसमूह का नेता था, यह स्पष्ट नहीं है। कतिपय विद्वानों ने ग्रामणी का ग्रामनेता के रूप में वर्णन किया है। परन्तु कतिपय अन्य विद्वानों ने उसे जननेता माना है। वाल्मीकीय रामायण में भी ग्रामणी का उल्लेख प्रतिष्ठित पदाधिकारियों में है।[2] महाभारत में ग्रामणी जननेता के रूप में वर्णित है।[3]

(४) सूत—वैदिक साहित्य में सूत का उल्लेख है। यजुर्वेद में एक स्थल पर सूत-वेशधारी रुद्र की स्तुति की गयी है और सूत के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है।[4] भाष्यकारों ने इस प्रसंग में सूत को सारथि माना है। उनका मत है कि इस प्रसंग में सूत का विशेष लक्षण दूसरे को न मारने वाला (अहत्य) है। सूत युद्ध में रथ-संचालन करता था। वह योद्धा रूप में कार्य नहीं करता था अर्थात् दूसरे (शत्रु) को मारता नहीं था। परन्तु कुछ विद्वान 'अहत्य' पद का अर्थ अवध्य करते हैं। उनके मतानुसार सूत राजा का प्रशस्तिकार अथवा विशेष ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन कर्ता होता था। वह युद्ध में भाग नहीं लेता था केवल युद्ध की घटनाओं का संचय कर्ता था। इसी कारण उसे अवध्यता का अधिकार दिया गया था। सूत के इस विशेष लक्षण की ओर ही यजुर्वेद के इस मंत्र में संकेत है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के एक मंत्र में इस विषय की अप्रत्यक्ष रूप में पुष्टि की गयी है। इस मंत्र में सूत का सम्बन्ध नृत्त से जोड़ा गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि सूत की उत्पत्ति नृत्त के लिए (नृत्ताय सूतम्) हुई है।[5] नृत्त उपयोगी कला है। इस कला द्वारा मनुष्य अपने इंगित आकार चेष्टा तथा शरीर के विविध अंगों द्वारा भाव व्यक्त करता है। इस संकेत से ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक सूत का स्वरूप लगभग वही था जो कि मध्यकालीन भारतीय नरेशों के दरबारों में राजा के प्रशस्तिकारों का होता था जिन्हें राजपूत युग में भाट कहते थे। दिल्ली नरेश पृथ्वीराज का राजकवि अथवा दरबारी

१ ७।५।३ अथर्ववेद। २ १६।११७ युद्धकाण्ड। ३ १०, ११।१३५ शान्तिपर्व।
४ १८।१६ यजुर्वेद। ५ ६।३० यजुर्वेद।

भाट पृथ्वीराजरासो का प्रणेता चन्द्र नामक प्रशस्तिकार था। मध्यकालीन भारतीय नरेशों के दरबारों में रहने वाले ये प्रशस्तिकार अपने स्वामी की प्रशस्ति में वाक्यरचना कर उसे अनुकूल अवसरों पर बड़े हाव भाव के साथ प्रदर्शित करते थे। मध्यकालीन भारतीय नरेशों के इन्हीं प्रशस्तिकारों के समान वैदिक सूत भी रहा होगा। वह अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित विशेष घटनाओं का संग्रहकार भी होगा।

अथर्ववेद में सूत राजा के रत्नों अथवा राजकर्ताओं में परिगणित किया गया है। वैदिक राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर उसे राजपद देने को सूत की भी अनुमति वाञ्छनीय होती थी। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर प्रस्तावित राजा पर्णमणि को सम्बोधित करता हुआ कहता था—हे पर्ण! सूत को मेरा सहायक बना।[1] शतपथ ब्राह्मण में भी ग्रामणी और सूत को राजा के रत्नों अथवा राजकर्ताओं में उचित स्थान दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण से सम्बन्धित प्रसंग में इन दोनों को अराजवंशीय राजकर्ताओं (यथा व राज्ञोऽराजानो राजकृत) की श्रेणी में परिगणित किया गया है।[2]

रामायण महाभारत में भी सूत का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में सूत राजा की मन्त्रिपरिषद का एक सदस्य बतलाया गया है। इस प्रसंग में सूत का प्रधान कर्त्तव्य अपने समय की विशेष रूप में अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करना था। मन्त्रिपरिषद की सदस्यता हेतु सूत की योग्यता एवं उसके गुणों का वर्णन करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—आठ गुणों (सेवा, श्रवण ग्रहण धारण, ऊहन अपोहन विज्ञान और तत्वज्ञान) से युक्त अप्रगल्भ अनसूयक, पचास वर्षीय श्रुति और स्मृति का ज्ञाता विनीत समदर्शी कार्य में विवदमान पुरुषों में समय सात प्रकार के घोर व्यसन रहित और पौराणिक सूत होना चाहिए।[3] महाभारत के इस उद्धरण के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सूत भी राजा के समीप रहता हुआ इसी श्रेणी का कार्य करता होगा।

(५) क्षत्रिय—राजा के छत्र को धारण करने वाले अथवा उसकी रक्षा का भार ग्रहण करने वाले क्षत्रिय को इस प्रसंग में क्षत्रिय का पद दिया गया है।

(६) संगृहीता—संगृहीता को अर्थ विभाग का विशेष पदाधिकारी विद्वानों

१ ७।५।३ अथर्ववेद। २ १८।२।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।

३ ९ से ११।८५ शान्तिपर्व महाभारत।

ने माना है। वह भी राजकर्ताओं में था। राज्याभिषेक के समय प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के प्रस्ताव पर उसकी भी अनुमति वाछनीय थी। इस पदाधिकारी के विशेष परिचय हेतु इसी पुस्तक के कोश नामक अध्याय म सगृहीता नाम के पदाधिकारी सम्बन्धी वर्णन द्रष्टव्य है।

(७) **भागदुघ**—भागदुघ को भी अर्थ विभाग का विशेष कर्मचारी बतलाया गया है। उसका मुख्य कर्तव्य राज्य की जनता से कर सचय कर उसे राजकोश म सगृहीत करना माना गया है। इस कार्यकर्त्ता का भी वर्णन इसी पुस्तक के कोश नाम के अध्याय म पठनीय है।

(८) **अक्षवाप**—भाष्यकारो ने अक्षवाप पदाधिकारी को द्यूत ध्यक्ष माना है। ऋग्वेद म द्यूत की विशेष निन्दा की गयी है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वदीय आय राजाओ ने द्यूत पर नियत्रण रखने के लिए इस पदाधिकारी की आवश्यकता अनुभव की होगी। इसलिए अक्षवाप को राज्य के उच्च कार्यकर्ताओं म स्थान दिया गया है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार अक्षवाप अर्थ विभाग का एक विशेष अधिकारी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अक्ष-पटल नाम के पदाधिकारी के समकक्ष था।[1] यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में अक्षराज का उल्लेख है।[2] परन्तु यह अक्षवाप से भिन्न है। अक्षराज परम प्रवीण जुआरी अर्थात जुआरियो का सरदार होता था।

(९) **गोविकर्ता**—गो शब्द वदिक भाषा म सामान्य पशुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वदिक राज्यो म वन अपेक्षाकृत अधिक थे। इन वनो (अरण्य) को साफ कर आय-बस्तियाँ स्थापित की जाती थी और अरण्य भूमि कृषि भूमि म यथासम्भव परिणत की जाती थी। वदिक अरण्यो मे अरण्य पशु अधिक सख्या म होते थे। उनसे अरण्य शुद्ध करना आवश्यक था। इसलिए उनके इस काय की सिद्धि हेतु एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति आवश्यक थी। इस विशेष पदाधिकारी को गोविकर्ता के नाम से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के एक मत्र म गो विकृन्तन नाम के एक अधिकारी की ओर सकेत है। सभव है यह गोविकर्ता ही होगा।[3] यह पदाधिकारी आधुनिक युग के वन अधिकारी (अरण्यपाल) के समकक्ष रहा होगा।

१ पृष्ठ २०२, २०३, डा० का० प्र० जायसवालकृत हिंदू पालिटी।

२ १८।३० यजुर्वेद।

३ १८।३० यजुर्वेद।

यजुर्वेद के एक अन्य प्रसग म रुद्र को वना का पालन करने वाला (अरण्यपति) बतलाया गया है।[1] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वदिक युग मे वना की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(१०) पालागल—पालागल राजा के आदेशो का निर्दिष्ट व्यक्तिया अथवा स्थान तक पहुचाने वाला कर्मचारी था। उसका स्थान आधुनिक युग के 'हरकारा (सदेशवाहक) के समकक्ष था।

राज्य के उपयुक्त उच्च कार्यकर्ताओ के जिन्हें वदिक साहित्य म राजकर्ता कहा गया है, अतिरिक्त राज्य म सम्भवत कतिपय अन्य राजकर्मचारी अथवा कार्यकर्ता भी थे। इनम गणक, हस्तिप, अश्वप श्वपति, परिचर मागध क्षत्ता आदि होते थे। इनका उल्लेख यजुर्वेद के सोलहवे तथा तीसवें अध्याय म सकेत रूप म है।

१ १८।१६ यजुर्वेद।

अध्याय ९

कोश

कोश का महत्व

छोटे से छोटे काम की सिद्धि हेतु धन नितान्त आवश्यक है फिर भला राज्य-संगठन एवं उसके संचालन जैसा महान् कार्य धन के बिना क्योंकर सम्पन्न हो सकता है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्रप्रणेताओं ने राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु धन परम आवश्यक बतलाया है और इस प्रकार उन्होंने कोश के महत्व को स्वीकार किया है। भारत के ऐतिहासिक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री आचार्य कौटिल्य के मतानुसार संसार में अर्थ ही प्रधान पदार्थ है।[1] उसी के अधीन धर्म और काम हैं। इसीलिए उन्होंने कोश को राज्य का आधार माना है। उनका मत है कि राज्य सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रिया का आधार कोश होता है। इसलिए राजा सर्वप्रथम कोश-वृद्धि का चिन्तन करे और कोश संग्रह करता रहे।[2] महाभारत में महात्मा भीष्म ने भी राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु राजा द्वारा कोश संग्रह परम आवश्यक बतलाया है। उनका भी मत है कि राजा प्रयत्नपूर्वक निरंतर कोश की रक्षा करता रहे। कोश ही राजाओं का मूल एवं उनकी वृद्धि का हेतु होता है।[3] कोश के महत्व का उल्लेख करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—राजा का मूल कोश और सेना है। सेना का मूल कोश है। सेना सम्पूर्ण धर्मों का मूल है और धर्म ही प्रजा का मूल है। इसलिए सबसे मूल कोश की वृद्धि करनी चाहिए।[4] इस विषय में शुक्र का मत भी उल्लेखनीय है। उनका मत है कि राजा सेना, प्रजारक्षण और यज्ञ के निमित्त कोश का संग्रह करे।[5]

इस प्रकार राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु अर्थ परमोपयोगी पदार्थ है।

१ १०।७।१ अर्थशास्त्र। २ ११।७।१ अर्थशास्त्र। ३ १६।११९ शान्तिपर्व [महाभारत। ४ ३५।१३० शान्तिपर्व महाभारत।
५ ११२८।४ शुक्रनीति।

जब यह अर्थ राज्य के सगठन एव उसके सचालन हेतु नियमित कर राज्य के अधीन सगहीत किया जाता है तब कोश कहलाता है।

वदिक सहिताओं म कुछ ऐसे सकेत प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वदिक आर्य राज्यों म किसी न किसी रूप म कोश का उदय हो चुका था। चाहे वह स्थायी कोश के रूप म रहा हो अथवा अस्थायी रूप म। इसम दो मत नहीं हो सकते कि वदिक राजकोश का स्वरूप आधुनिक राजकोश का पूर्व रूप मात्र था। परन्तु इसमे यह स्पष्ट है कि वदिक ऋषियों ने राज्य के सगठन एव उसके सचालन हेतु कोश की आवश्यकता एव उसकी उपयोगिता के महत्व को भली भांति समझ लिया था। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि कोश के बिना राज्य का सगठन एव उसका सचालन कदापि सभव नहीं है।

कोश सचय के प्रमुख साधन

वदिक सहिताओं म राजकोश के सचय हेतु कतिपय साधनों की ओर सकेत किये गये हैं। इनसे ज्ञात होता है कि राजकोश के सचय के मुख्य दो साधन थ जो राज्य की प्रजा स कर अथवा सहायता रूप म प्राप्त और शत्रु राज्यों पर विजय के उपरान्त प्राप्त धन धान्यादि थ।

राज्य की प्रजा से कर अथवा आर्थिक सहायता—ऋग्वद म कुछ ऐसे सकेत प्राप्त है जिनस ज्ञात होता है कि वदिक राजा विविध प्रकार के करों द्वारा अपनी प्रजा स धन सचय करता था। इनमे बलि और शल्क मुख्य थे। इन करों का वास्तविक स्वरूप क्या था इसका इन सकेतों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। पहले बलि नामक कर के स्वरूप का यथासम्भव उल्लेख इस प्रसग म किया जायगा।

(क) बलि—वदिक राजा अपने अधीन प्रजा स जो कर रूप म धन धान्य तथा अन्य सामग्री प्राप्त करता था उसे बलि नाम स सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद म कई प्रसग है जिनम इस ओर सकेत किया गया है कि देवो ने राजा को अपने अधीन प्रजा से बलि प्राप्त करने का अधिकारी बनाया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के सूक्त छ के एक मत्र म यह सकेत मिलता है कि अग्निदेव के प्रताप स राजपद स वचित राजा नहुष बलपूर्वक अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी हो गया था।[1] इस प्रकार राजा नहुष अपने अधीन प्रजा स बलि ग्रहण करने लगा था। इसी प्रसग

१ ५।६।७ ऋग्वेद।

म ऋग्वेद के एक मन्त्र म इस विषय का उल्लेख है कि इन्द्र द्वारा राजा अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी बनाया गया है। इस मन्त्र म उक्त अश का भाव इस प्रकार है—हे राजन! इन्द्र ने तुझे तेरी प्रजा से बलि ग्रहण करने का एक मात्र अधिकारी बनाया है।[1] ऋग्वेद के इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता राजा है अर्थात उक्त सूक्त की विषयवस्तु राजपरक है। इस सकेत से बलि का तात्पय एक विशेष कर है जिसे प्रजा से बलि राजा प्राप्त किया करता था।

अथववेद म भी कई स्थलो पर बलि (कर) का उल्लेख है। उसमे ब्रह्मौदन के महत्व का उल्लेख है। इस प्रसग म एक मन्त्र म बतलाया गया है कि ब्रह्मौदन के प्रताप से मनुष्य अपनी जाति के लोगो मे बलिग्रहण करता है।[2] इस मन्त्र मे ऋग्वेद की भाति ही बलिहृत शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है बलि ग्रहण करने वाला। अथववेद के तृतीय काण्ड का चतुर्थ सूक्त राजपरक है। इस सूक्त म प्रजा द्वारा राजा की सवरण सम्बन्धी प्रक्रिया का सक्षिप्त उल्लेख है। इसम व्यवस्था है कि राजा प्रजा से पर्याप्त मात्रा म बलि ग्रहण करे।[3] इस प्रकार अथववेद मे इस मन्त्र द्वारा राजा के बलिग्रहण करने के अधिकार की स्थापना स्पष्ट शब्दो म की गयी है। वेद के एक अन्य मन्त्र म सर्वाधार जगदीश्वर के लिए देवगण लोक से बलि ग्रहण करते रहते हैं ऐसा वर्णित है।[4] इस प्रसग म यह स्पष्ट है कि सभी देवगण उस एक परम शक्ति के राज्य म रहते हैं अर्थात वे उसकी प्रजा है और इस नाते अपने उस राजा के लिए सदैव बलि प्रदान करते है। इसी प्रसग म एक मन्त्र म लक्षित किया गया है कि उसी जगदाधार जगदीश्वर के लिए राजागण अपने राष्ट्रवासियो म बलि सचय किया करते हैं।[5]

उपयुक्त प्रसगो से स्पष्ट है कि अथववेद म बलि शब्द का प्रयोग एक विशेष कर के लिए हुआ है। वदिक राजा अपने अधीन प्रजा म इस कर के द्वारा राजकोश का सचय समय-समय पर करता था।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसग म यह सकेत किया गया है कि राज्य की जनता (विश) अपने राजा के निमित्त (क्षत्रियाय) बलि सचय करती थी (बलिं हरन्ति स्म)।[6]

१ ६।१७३।१० ऋग्वेद। २ ६।१।११ अथववेद।
३ ३।४।३ अथववेद। ४ ३९।७।१० अथववेद।
५ १५।८।१० अथववेद। ६ ११३।२।१५ शतपथ ब्राह्मण।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी बलि एक प्रकार का कर माना गया है। यह कर राज्य की जनता से प्राप्त किया जाता था और फिर इस प्रकार संचित धन धान्य तथा अन्य सामग्री राजकोश में संचय हेतु राजा के पास भेज दी जाया करती थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में बलि का उल्लेख कर रूप में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं पंजिका के पांचवें अध्याय के भी इस मत में राजा के निमित्त सोमपान की आज्ञा का वर्णन है। इस आज्ञा के विपरीत सम्राट होने के कारण सोमपान करने का फल बतलाया गया है—जो क्षत्रिय (पुरोहित राजा) यजमान इस विधि से सोमपान करता है उसकी श्री सूर्य के समान चमकती है सब दिशाओं से सूर्य के समान वह बलि ग्रहण करता है। वैदिक संहिताओं में जिस बलि नाम के कर का उल्लेख है उसका वास्तविक स्वरूप क्या था स्पष्ट नहीं है। परन्तु वैदिक युग के उत्तर काल के संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों में प्रसंगवश इस कर के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इन ग्रंथों में बलि का जो स्वरूप दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि प्रजा के रक्षणार्थ राजा द्वारा जो व्यवस्था की जाती थी उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को धन धान्य आदि की आवश्यकता पड़ती थी। इस धन धान्य आदि की प्राप्ति हेतु प्रजा अपने राजा को कर रूप में आवश्यक सामग्री प्रदान करती थी। इस कर को बलि कहते थे। बलि विशेष रूप से ग्रामवासियों पर लगाया जाता था और जो मास-मास अथवा वर्ष के अन्त में संगृहीत कर राजकोश में संचय हेतु भेजा जाता था। इन ग्रंथों में बलि की दर भी दी हुई है। इनमें आय का षडंश बलि की दर बतलायी गयी है। मनुस्मृति में वह राजा अपने समान प्रजा के सम्पूर्ण पापों का वहन करने वाला बतलाया गया है जो कि अपनी प्रजा के धन धान्य आदि का छठा भाग बलि के रूप में ग्रहण कर उसकी रक्षा नहीं करता है।[1] महाभारत में व्यवस्था दी गयी है कि जो राजा अपनी प्रजा की आय का छठा भाग बलि के रूप में ग्रहण करता है परन्तु उसकी सम्यक् रक्षा नहीं करता वह राजा डाकू (तस्कर) है।[2] मार्कण्डेय पुराण में उस राजा को नरक में वास करने का अधिकारी बतलाया गया है जो प्रजा की आय का षडंश बलि के रूप में ग्रहण करता है परन्तु उसकी रक्षा नहीं करता।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में

१ ३०८।८ मनुस्मृति।   २ १००।१३९ शान्तिपर्व महाभारत।
३ १२६।१६ मार्कण्डेय पुराण।

वलि क विषय म जो सकेत प्राप्त हैं उनस ज्ञात होता है कि वदिक युग म वलि नाम का एक कर था जो प्रजा रक्षण काय हेतु राजा द्वारा उस पर लगाया जाता था। सम्भवत इस कर का दर प्रजा की आय का छठा भाग होती थी।

(ख) शुल्क—ऋग्वेद म शुल्क शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रसग म ज्ञात होता है कि शुल्क शब्द जिस अथ म स्मृतियो गाथा काव्यो अथशास्त्र नीतिशास्त्र आदि म प्रयुक्त हुआ है उस अथ म ऋग्वेद म प्रयुक्त नहो हुआ है। ऋग्वेद क आठवें मण्डल के प्रथम सूक्त के अन्तगत एक मत्र म इन्द्र के विनय हेतु सकेत किया गया है। इस मत्र म इस प्रकार वणन है—इन्द्रा तुम्हें महाशुल्क के वदले म भी हम न वचेंग।[1] इस सकेत म शुल्क के वास्तविक स्वरूप का बोध नही होता है। अथव वेद क एक मत्र म स्वग लोक (नाक) क कतिपय लक्षणो का वणन है। इस म कहा गया है कि नाक (स्वग) लोक म निबल बलो को शुल्क नही देता।[2] इस मत्र से स्पष्ट है कि शुल्क एक प्रकार का कर था जो बलवान् (राजा) अपने अधीन अबल (असहाय) प्रजा स ग्रहण करता था। अथववेद म एक अन्य स्थल पर ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की गौ अथवा आत्मा) के महत्व का उल्लेख करत हुए व्यवस्था दी गयी है कि ब्रह्मज्ञानी (ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण) शुल्क मुक्त रहत है।[3] इस सकत स भी एसा अनुमान होता है कि शुल्क एक प्रकार का कर था जो राज्य के निवासियो स प्राप्त किया जाता था। ब्राह्मण इस कर से मुक्त रहते थे।

स्मृतिसाहित्य अथशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि म शुल्क आधुनिक चुगी कर के रूप म वर्णित है।[4] परन्तु यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि अथववेद मे शुल्क कर के रूप म वर्णित है जिसका सम्बन्ध निबल तथा अबल अर्थात् राजा और उसकी प्रजा से था। इसके वास्तविक स्वरूप के विषय म निश्चयपूवक कुछ भी कहा नही जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि शुल्क राजा की आय का एक साधन था।

इस प्रकार वदिक राजा की आय का एक प्रधान साधन अपन अधीन प्रजा से करो के रूप म प्राप्त धन धान्य तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री थी जिन्हें वह राज्य सगठन एव उसके सचालन हेतु और आवश्यकता पडने पर युद्ध हेतु व्यय करता था।

१ ५।१।८ ऋग्वेद। २ ३।२९।३ अथववेद। ३ ३।१९।५ अथववेद।
४ ३०७।८ मनुस्मृति। २९।६९ शान्तिपव, महाभारत। १।२२।२ अथशास्त्र। २२।२१।२ अथशास्त्र। २१७, २१८।४ शुक्रनीति।

(ग) विजय द्वारा प्राप्त धन—राजा युद्ध में पराजित अपने शत्रु राजा से यथा सम्भव धन धान्य तथा अन्न सामग्री प्राप्त करता था। ऋग्वेद में एसे संकेत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में शत्रु से अन्न लाभ की कामना की गयी है। इस प्रसंग में अग्नि देव से प्रार्थना की गयी है कि वह रणस्थल से शत्रु का अन्न नाश करावे।[1] ऋग्वेद में अन्य स्थल पर देवों के राजा इन्द्र ने पणि जाति के राजा से उसके गोधन की प्राप्ति के लिए सरमा दूती के द्वारा तद्विषयक सदेश भेजा था। परन्तु पणि राजा ने गोधन देना अस्वीकार कर दिया, उसने स्पष्ट कह दिया कि युद्ध बिना इन्द्र को पणियों के गोधन की प्राप्ति नही हो सकती।[2] ऋग्वेद के इस संकेत से ज्ञात होता है कि युद्ध में पराजित राजा से विजयी राजा धन धान्य गोधन तथा अन्य पदार्थ दण्ड रूप में प्राप्त करता था। इस प्रकार प्राप्त धन धान्यादि वैदिक राजा की आय का एक साधन था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के शत्रुओं के इन्द्र के समीप से भागने और उनकी सम्पत्ति इन्द्र के हाथ आने की ओर संकेत किया गया है। इस मन्त्र में इस प्रकार कामना की गयी है—हमने जिस इन्द्र की प्रार्थना की है वह धनिक है और उसने हमारी कामनाओं को पूर्ण किया है। इन्द्र के पास से शत्रु दूर भागें। शत्रु के प्रधान लोगों का धन इन्द्र के हाथ आये।[3] इस सूक्त के एक मन्त्र में कामना की गयी है कि इन्द्र अपने बल के प्रभाव से (शत्रु की) विशाल सम्पत्ति को जीत ले।[4] अन्य वैदिक संहिताओं में भी इन्हीं भावों से युक्त अनेक मन्त्र हैं।

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर स्पष्ट है कि विजय द्वारा प्राप्त धन वैदिक राजा की आय का एक प्रमुख साधन था।

मुद्रा

मनुष्य की सुविधा हेतु क्रय विक्रय की माध्यम विविध प्रकार की मुद्राओं का निर्माण आवश्यकतानुसार समय समय पर होता रहता है। प्राचीन काल में क्रय विक्रय प्रधानतया विनिमय सिद्धान्त के आधार पर होता था। उस युग में मुद्राओं की संख्या एवं उनके प्रकार सीमित होते थे। वैदिक युग में भी क्रय विक्रय का प्रधान माध्यम विनिमय ही था। परन्तु वैदिक संहिताओं में कुछ एसे भी संकेत उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस युग में किसी न किसी रूप में मुद्रा का आविष्कार हो

१ ५।७३।१ ऋग्वेद। २ ५।१०८।१० ऋग्वेद।
३ ६।४२।१० ऋग्वेद। ४ १०।४२।१० ऋग्वेद।

गया था और वदिक आर्यों के दनिक जीवन म उसका व्यवहार भी किसी-न किसी रूप म होने लगा था। ऋग्वेद म निष्क नाम की मुद्रा का उल्लेख है।[1] अथववेद म भी निष्क नाम की मुद्रा का उल्लेख है। अथववद के इस प्रसग म यह भी सकत किया गया है कि निष्क नाम की स्वणमुद्राएँ थी जो सकडो की सख्या म होती थी।[2]

वन्कि निष्क क आकार प्रकार, उसके भार एव मूल्य के विषय मे वदिक साहित्य म कुछ भी वणन नही है। अत इन महत्त्वपूण विषयो पर सप्रमाण कुछ भी कहा नही जा सकता। इस विषय म केवल यह कहा जा सकता है कि वदिक आय निष्क नाम का स्वणमुद्रा का व्यवहार करते थे। निष्क आभूषण के रूप म भी प्रयुक्त होता था, वन्कि सहिताओ इसका उल्लेख है

कोश-सचय हनु कमचारी

वदिक साहित्य म कोश-सचय-व्यवस्था का वणन किसी प्रसग म भी उपलब्ध नहा है। इसलिए इस महत्वपूण विषय पर प्रकाश डाला जाना असम्भव है। यजुर्वेद म कतिपय राजकमचारियो की ओर सकेत किया गया है। इन कमचारियो म कुछ कमचारी राजकोश-सचय काय से भी सम्बन्धित जान पडत हैं। ये कमचारी भागदुघ सगहीता और गणक ह यद्यपि इनके वास्तविक स्वरूप के विषय म स्पष्ट प्रमाण का अभाव है।

भागदुघ—यजुर्वेद क तीसवें अध्याय मे विविध प्रकार के व्यवसायियो कमचारियो, विशेष अधिकारियो आदि की ओर सकेत किये गये है। इसी प्रसग म भागदुघ नाम के एक राजकमचारी की ओर सकत है।[4] भागदुघ यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है भाग दुहन वाला अथवा भाग सचय करने वाला। गाय दुहने वाला जसे गाय स शन शन दूध दुहकर पात्र मे सचित करता है, इसी प्रकार वह गाय रूप पृथिवी स दुग्ध रूप भाग सचय करता है। इस प्रकार भागदुघ राज्य की प्रजा से भाग-सचय (कर-सचय) करन वाला कमचारी था। भागदुघ के कत्तव्य, अधिकार पद के विशेष लक्षणो क विषय म वदिक साहित्य मे सूचना रूप म कुछ भी नहीं दिया हुआ है। अत इन विषयो म मौन रहना ही उचित है।

सगहीता—यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक मत्र म सगहीता नाम के एक

१ ९।३३।२ ऋग्वेद। २ ५।१३१।२० अथववेद।
३ निष्कग्रीव । ३।१९।५ ऋग्वेद। ४ १३।३० यजुर्वेद।

अधिकारी भी स्वीकार किया गया है।[1] डा० काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि यह अधिकारी राज्य के कोष का स्वामी (निधिपति) था। समय व्यतीत होने पर मौर्य युग में उसका पद सन्निधाता पद में परिवर्तित हो गया और इस प्रकार संगृहीता सन्निधाता हो गया। मौर्यों के समय में यही राजुक कहलाया।[2]

परन्तु डा० जायसवाल का यह मत सर्वमान्य नहीं है। संगृहीता को कुछ विद्वान् रणस्थल में युद्ध काल में इधर उधर बिखरी हुई युद्ध सम्बन्धी सामग्री का संग्रह करने वाला कर्मचारी मानते हैं। इस दृष्टि से उसका सम्बन्ध राजकोष से जोड़ना उचित न होगा। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि संगृहीता के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान हेतु प्रामाणिक सामग्री का अभाव होने के कारण उसके वास्तविक स्वरूप का स्थिर किया जाना असम्भव है।

गणक—गणक शब्द का अर्थ गणना करने वाला है। सम्भवतः गणक के पद का सम्बन्ध भी कोश से रहा होगा। यह कर्मचारी हिसाब किताब (आय-व्यय) का ब्यौरा रखनेवाला होगा। यजुर्वेद में गणक कर्मचारी की ओर संकेत करते हुए उसके प्रति सम्मान प्रदर्शन हेतु व्यवस्था की गयी है। राज्य में इस कर्मचारी का विशेष महत्व था, प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है। गणक को ग्रामणी के समान ही सम्मान पाने का अधिकारी बतलाया गया है।[3] परन्तु दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि गणक राज्य का ज्योतिषी रहा हो और जो राज्य में प्रतिष्ठित पद माना गया हो।

गणक का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा इस विषय में एक मत नहीं है। गणक पद का सम्बन्ध कोश विभाग से था अथवा उसका सम्बन्ध ज्योतिषशास्त्र से था, सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

इस प्रकार वैदिक संहिता कालीन आर्य राज्यों में राजकोश की समयानुसार व्यवस्था की गयी थी और उसके संचय के कतिपय पुष्ट साधनों का किसी अंश तक उपयोग किया गया था।

१ २६।१६ यजुर्वेद। २ पृष्ठ २०२ हिन्दू पालिटी (द्वितीय संस्करण)।
३ २०।३० यजुर्वेद।

अध्याय १०

प्रमुख संस्थाएँ

संस्थाओं का महत्व

प्रत्येक जाति के जीवन का बहुत कुछ परिचय उस जाति की संस्थाओं के अध्ययन करने से प्राप्त किया जा सकता है। इन संस्थाओं का आश्रय ग्रहण कर वह जाति अपने जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। इसलिए जाति विशेष के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन उस समय तक अधूरा ही रहता है जब तक कि उस जाति से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत अध्ययन न कर लिया जाय। अत वैदिक आर्यों के राजनीतिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यावहारिक रूप के अध्ययन हेतु उनसे जीवन से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत अध्ययन करना अनिवार्य है।

वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्यों की कतिपय संस्थाओं की ओर संकेत हैं। ये वे संस्थाएँ जान पडती हैं जिनका निर्माण आर्यों के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए हुआ था। इन संस्थाओं में अपने अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार, जीवन सम्बन्धी समस्याओं पर गम्भीरता एवं शान्तिपूर्वक विचार किया जाता था और इस प्रकार उन पर विवेचनापूर्ण विचार हो जाने के उपरान्त उनके निराकरण हेतु निर्णय किये जाते थे,[1] जो उनके द्वारा यथासम्भव कार्यान्वित होते थे। इस प्रकार उनकी जीवनयात्रा के मार्ग में उपस्थित होने वाले विघ्नों और उपद्रवों का शमन होता रहता था और तदनुसार वे अपने उस प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए अपने जीवन के परम एवं चरम ध्येय की प्राप्ति करते रहते थे। वेदों में उल्लिखित इन संस्थाओं में सभा समिति और विदथ विशेष महत्वपूर्ण थीं। इन संस्थाओं के विषय में वैदिक साहित्य में जो सामग्री हमें उपलब्ध है उसके आधार पर आर्यों की इन संस्थाओं का परिचय इस प्रसंग में दिया जाता है।

सभा

सभा की प्राचीनता

वैदिक आर्यों की संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय

संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से उनके राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता था। अथर्ववेद में सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सभा वैदिक आर्यों की अति पुरातन संस्था थी जिसका प्रादुर्भाव सृष्टि रचना के साथ ही आदि काल में हुआ था। सभा की उत्पत्ति विराट पुरुष से कही गयी है।[2] इसी प्रकार इसी वेद के एक प्रसंग में व्रात्य अथवा आदिपुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[3]

इन प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों की यह सभा उतनी ही पुरातन है जितने पुरातन प्रजापति, विराट पुरुष अथवा व्रात्य हैं और इस प्रकार वैदिक सभा की उत्पत्ति भी आदि सृष्टि के साथ ही हुई थी। सभा का सर्वप्रथम निर्माण चाहे जिसने और चाहे जब किया हो, परन्तु वैदिक आर्यों की जिन संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में है उनमें सभा ही एक ऐसी संस्था है जिसके विषय में उनकी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा परिचयात्मक प्रामाणिक सामग्री अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

सभा के विषय में विविध मत

सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक आर्य किसी विशेष समस्या के समाधान हेतु विचार करने के लिए जब एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे तो उनके इस प्रकार एकत्र होने को समिति और जिस स्थान अथवा भवन में वह एकत्र होते थे उसे सभा कहते थे। इसका तात्पर्य यह है कि समिति वैदिक आर्यों की संस्था थी और इस संस्था के सदस्यों की बैठक जिस स्थान अथवा भवन में होती थी उस स्थान अथवा भवन को सभा की संज्ञा दी गयी थी। इस मत के प्रवर्तक हेली ब्रण्ड (Helle brende) माने जाते हैं। दूसरी श्रेणी के विद्वानों का कहना है कि सभा ग्राम की संस्था थी और समिति केन्द्रीय संस्था थी। इस प्रकार उनके मतानुसार वैदिक आर्यों की ग्राम मात्र की संस्था सभा थी और इस दृष्टि से वैदिक राज्य में अनेक सभाएँ थीं। इस श्रेणी के विद्वानों के प्रतिनिधि जिमर (Zeimer) हैं। डा० लुडविक (Ludvig) के मतानुसार वैदिक आर्यों की महत्वपूर्ण अति पुरातन संस्था थी। उस संस्था के सभा और समिति दो सदन

१ ८।१२।७ अथर्ववेद। २ ८। ३ १५।९।२ अथर्ववेद।

समिति जन साधारण का सदन और सभा विशिष्ट अथवा उच्च सदन था। इस उच्च सदन में पुरोहितों, धनिकों एवं उच्चवर्गीय लोगों के प्रतिनिधि सदस्य होते थे। डा० काशी प्रसाद जायसवाल के मतानुसार समिति वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी परन्तु सभा समिति की एक स्थायी उपसमिति थी। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सभा और समिति में परस्पर क्या सम्बन्ध था इस विषय पर निश्चयात्मक किसी प्रकार का मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। डा० अ नेकर के मतानुसार सभा का सम्बन्ध ग्राम मात्र से था। सभा ग्राम की संस्था थी। इस दृष्टि से वैदिक राज्य में लगभग उतनी ही सभाएं होती थीं जितने कि उस राज्य में ग्राम होते थे। उन्होंने भी समिति को केन्द्रीय संस्था माना है। ऋग्वेद के एक मंत्र में जुआरी जुआ खेलने के लिए सभा को जाता है ऐसा वर्णन है।[1] ऋग्वेद के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में जुआरियों का अड्डा भी सभा कहलाता था। चाहे जो भी रहा हो, परन्तु यह कहना कि सभा समिति की बैठक का स्थान अथवा भवन मात्र था नितान्त तथ्यहीन है। यदि सभा समिति की बैठकों का स्थान अथवा भवन ही होती, तो सभा के सदस्यों एवं सभासदों का होना क्योंकर सम्भव था। अथर्ववेद के स्पष्ट निर्देश के अनुसार सभा के सदस्य सभ्य एवं सभासद् कहलाते थे। वे सभा में भाषण किया करते थे।[2] इसमें सन्देह नहीं कि सभाभवन अथवा सभा की बैठक के स्थान को भी सभा ही कहते थे। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सभा संस्था न थी। सभा केवल स्थानीय अथवा ग्राम की संस्था मात्र भी न थी। सभा और समिति दोनों का पृथक पृथक् अस्तित्व वेदों में स्पष्ट बतलाया गया है। अतः सभा को समिति की स्थायी उपसमिति मान लेना न्याययुक्त न होगा। सभा और समिति के अपने अपने पृथक कार्य थे और वे दोनों संस्थाएँ केन्द्रीय स्तर पर संचालित थीं। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय अथवा ग्राम्य स्तर पर भी सभाएँ थीं, परन्तु इसमें उनके केन्द्रीय संस्था होने में किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं है। दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि सभा की बैठक जिस स्थान अथवा भवन में होती थी उसे भी सभा ही कहते थे।

सभा का संगठन

सभा के संगठन के विषय में समुचित मात्रा में प्रामाणिक सामग्री का अभाव

१ ६।३४।१० ऋग्वेद। २ ५।५५।१९ अथर्ववेद।

अश्व, कर्तव्यपरायण, गृह सत्कार कार्य मे कुशल पितृभक्त, विदथ की सदस्यता योग्य और सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है। इस मत्र मे स्पष्ट बतलाया गया है कि वदिक सभा की सदस्यता प्राप्ति लोक की दृष्टि मे विशेष राष्ट्रीय सम्मान मानी जाती थी। इस पद की प्राप्ति के निमित्त विशेष गुणो एव योग्यताओ का धारण करना अनिवार्य था। ये गुण तथा योग्यताएँ सामान्य श्रेणी के पुरुषो के लिए साधारण तथा सुलभ न थी। वदिक सभा की सदस्यता वैदिक आर्यों की दृष्टि मे विशिष्ट अधिकार था, जिसकी प्राप्ति हेतु प्रत्येक पुरुष लालायित रहता था।

सभा का सदस्य किस नाम से सम्बोधित किया जाता था इस विषय मे ऋक् और यजु दोनो वेद मौन है। परन्तु अथर्ववेद मे इस ओर स्पष्ट सकेत किये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि वदिक सभा के सदस्य को सभ्य अथवा सभासद की उपाधि से विभूषित किया जाता था।[1]

सभासद की योग्यता

वदिक सभा का सदस्य बनने के लिए किन किन योग्यताओ की आवश्यकता होती थी, वेदो मे इस विषय का विशेष उल्लेख नही है। परन्तु इस ओर कतिपय सकेत अवश्य किये गये हैं। ऋग्वेद के एक प्रसग मे इस प्रकार सकेत किया गया है—सभा के यशस्वी सभासद की प्रशसा उसके अन्य सब सभासद सभा मे किया करते है। सभासद यश द्वारा प्रशसित होता है।[2] इस सकेत से ज्ञात होता है कि सफल सभासद बनने के लिए लोकोपकारी कार्य सम्पन्न कर यश की प्राप्ति कर लेना आवश्यक था। दूसरे शब्दो मे यह कहना उचित होगा कि ऋग्वेद इस पक्ष मे जान पडता है कि वदिक सभा का सदस्य बनने के लिए यशस्वी होना आवश्यक था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के अनुसार सभा की सदस्यता की प्राप्ति के लिए प्रत्याशी को यशस्वी पुरुष होना अनिवार्य था। सभा की सदस्यता प्राप्त कर लेने के पूर्व उसकी कीर्ति की छाप प्राय जनता के हृदयो मे भली भाँति अकित हो चुकनी चाहिए।

वदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु, ऋग्वेद के अनुसार दूसरी योग्यता सद्भाषा होना निर्धारित की गयी है। इसके अनुसार वदिक सभा की सदस्यता के योग्य वही पुरुष समझा जाता था जिसमे अन्य आवश्यक गुणो के अतिरिक्त एक विशेष

१ २०।९।११ अथर्ववेद। २ ५।५५।१९ अथर्ववेद। २।१२।७ अथर्ववेद।
३ १०।७१।१० ऋग्वेद। ४ ६।२८।६ ऋग्वेद।

गुण भद्रमापो होने का भी होता था। भद्रमापी का तात्पर्य यह था कि जिस पुरुष की वाणी प्राणी मात्र के कल्याण हेतु वचन बोलने में निरन्तर रत रहती हो। यह व्यक्ति प्राणी मात्र के कल्याण हेतु अपनी वाणी का सदुपयोग करने का अभ्यासी होना था। सभा की सदस्यता के लिए ऋग्वेद के अनुसार तीसरी योग्यता बृहद्वाणी के प्रयोग करने की क्षमता बतलायी गयी है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि सभा में बृहद् वाणी का उच्चारण होना चाहिए।[1] बृहद्वाणी का तात्पर्य गम्भीर ओजपूर्ण, स्पष्ट एवं सारयुक्त वचन से है। इसलिए वैदिक सभा के सभासद का पद पाने के लिए गम्भीर ओजपूर्ण, स्पष्ट एवं सारयुक्त वाणी के प्रयोग करने का अभ्यासी होना चाहिए। वाणी के इन गुणों से शून्य होने पर पुरुष सभा का सदस्य बनने योग्य नहीं रहता। इन योग्यताओं के अतिरिक्त, सभा की सदस्यता हेतु, ऋग्वेद में वाणी सम्बन्धी एक और योग्यता की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के अनुसार सभा की सदस्यता प्राप्ति के निमित्त यथार्थवादी होना आवश्यक गुण निर्धारित किया गया है।[2] इस दृष्टि से वैदिक सभा का सदस्य यथार्थवादी होना चाहिए।

सभा की सदस्यता हेतु जो योग्यताएं ऋग्वेद में संकेत रूप में लक्षित की गयी हैं उनकी अपेक्षा तत्सम्बन्धी जो योग्यताएँ अथर्ववेद में दी गयी है, अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। अथर्ववेद के एक प्रसंग में सभा के सदस्य के लिए वर्चस्वी और ज्ञानवान होने के लिए प्रार्थना की गयी है।[3] अथर्ववेद में दी गयी इस प्रार्थना के अनुसार वैदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु प्रत्याशी वर्चस्वी तथा ज्ञानवान पुरुष होना चाहिए। इसी प्रसंग में यह भी प्रार्थना की गयी है कि सभा का सदस्य इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला पुरुष होना चाहिए।[4] इससे स्पष्ट है कि निर्भीकता वीरता पराक्रमशीलता विद्वत्ता आदि जो गुण इन्द्र में माने गये हैं, वे सभी गुण वैदिक सभा के सदस्य में भी होने चाहिए। इसी प्रसंग में अथर्ववेद में अन्यत्र प्रार्थना की गयी है कि सभा के सभासद सत्यवादी तथा न्यायपरायण होने चाहिए। उन्हें सत्य सत्य एवं न्याय पूर्ण वचन बोलने चाहिए।[5] इस आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि अथर्ववेद के इस उद्धरण के अनुसार सभा की सदस्यता के लिए प्रत्याशी को सत्यवक्ता एवं न्यायपरायण होना आवश्यक है। इसी प्रसंग में सभासद को पिता कहकर सम्बोधित

१ ६।२८।६ ऋग्वेद।　२ ३।१६७।१ ऋग्वेद।　३ ३।१३।७ अथर्ववेद।
४ ३।१३।७ अथर्ववेद।　५ ५६।१।१३ अथर्ववेद।

किया गया है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक सभा के सदस्य में पिता के गुण होने चाहिए और इस आधार पर सभा का सदस्य बनने का अधिकारी वही पुरुष समझा जा सकता है जो सभा के सम्पर्क में आनेवाले (वादी प्रतिवादी साक्षी आदि) के प्रति पितृवत व्यवहार करने की सामर्थ्य रखता हो। इस दृष्टि से प्राणी मात्र के प्रति सभा के सदस्य का व्यवहार पितृवत होना चाहिए।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में सभा की सदस्यता हेतु कतिपय योग्यताएँ निर्धारित थी। इन निर्धारित योग्यताओं के अनुसार सभा की सदस्यता का अधिकारी बनने के लिए प्रत्याशी को यशस्वी, वर्चस्वी, ज्ञानवान, भद्रभाषी, सुवक्ता, सत्यवादी, न्यायपरायण, गम्भीर, स्पष्टवादी, सारयुक्त वचन बोलने में कुशल, प्राणिमात्र का पितृवत हितेच्छुक तथा पालक, और इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला व्यक्ति होना चाहिए। इस आधार पर सभा का सदस्य शरीर, वाणी, बुद्धि और विशुद्ध आचरण सम्बन्धी विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार

वैदिक सभा के सभासदों के विशेषाधिकारों के विषय में वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर उनके कुछ विशेषाधिकारों का अनुमान किया जा सकता है।

अथर्ववेद के एक प्रसंग में सभा में समान आसनों के होने की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर सभा भवन में सभासदों के लिए आसन ग्रहण करने के अधिकार का परिचय प्राप्त होता है। सभा में सभासद का एक विशेषाधिकार सभा भवन अथवा सभा भूमि में आसन ग्रहण करने से सम्बन्ध रखता है। सभा का सदस्य चाहे जिस वर्ण, रंग, आकृति आदि का पुरुष क्यों न हो परन्तु सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए उस समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था।[2] इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक सभा में सभा के सभी सदस्यों के लिए समान आसनों की व्यवस्था थी। इस आसन व्यवस्था की दृष्टि से वैदिक सभा जनतान्त्रिक संस्था थी।

अथर्ववेद के अनुसार वैदिक सभा के सदस्यों का दूसरा विशेषाधिकार सभा में

१ ३।१३।६ अथर्ववेद। २ ३।१३।७ अथर्ववेद।

मत प्रकाशन सम्बन्धी था। इस विशेषाधिकार के अनुसार सभा के प्रत्येक सदस्य को सभा में अपना मत एवं अपने विचार प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[1] सभा के सभी सदस्य सभा में प्रस्तुत विषय पर अपने मत व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र थे। सभा के सदस्यों का यह विशेषाधिकार उनके लिए परम महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। आधुनिक युग में भी जनतान्त्रिक सभाओं में इनके सदस्यों को यह विशेषाधिकार समान रूप में प्राप्त है।

सभापति

वैदिक संहिताओं में सभा के अध्यक्ष की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। यजुर्वेद में सभा के अध्यक्ष को सभापति की संज्ञा दी गयी है। यजुर्वेद में सभापति का उल्लेख जिस रूप में है उससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जनता में सभापति पद विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। इस वेद में जहाँ राज्य के अन्य पदाधिकारियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है वहीं सभा के सभापति के प्रति भी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया गया है।[2] यजुर्वेद में प्राप्त इस संकेत से ज्ञात होता है कि वैदिक समाज में सभा के सभापति का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थी। सभापति की नियुक्ति किस प्रकार और किसके द्वारा होती थी इस विषय में वैदिक साहित्य में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं है। अतः इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार सभापति के विशेष कर्तव्य एवं अधिकार क्या थे, इस विषय की सामग्री के अभाव के कारण कुछ कहना उचित नहीं होगा।

सभा के कार्य

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सभा का प्रधान कार्य धर्म निर्णय था। मनुष्य किस विशेष कार्य अथवा आचरण करने से किस प्रकार तथा कितनी मात्रा में कर्तव्य भ्रष्ट धर्मच्युत हुआ है और तदनुसार उसे किस प्रकार और किस मात्रा में दण्ड मिलना चाहिए इस विषय का निर्णय करना सभा का प्रधान कार्य था। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता

१ २।१३।७ अथर्ववेद। २ २४।१६ यजुर्वेद।

है कि सभा का प्रधान काय विवादग्रस्त विषयो पर विचार करना एव तदनुसार निणय देना था।

यजुर्वेद म सभा का परिचय देत हुए बतलाया गया है कि धम के लिए (धमाय) सभा म गमन करन वाल (समाचरम) को जानना चाहिए।[1] इस मत्र स ज्ञात होता है कि मनुष्य धमनिणय अर्थात् न्याय की प्राप्ति हेतु सभा म गमन करता था। यजुर्वेद के एव अन्य मत्र म भी इसी तथ्य की पुष्टि की ओर सकेत किया गया है। यह सकेत इस प्रकार है—यत ! तू आक्रमण के लिए अर्थात आक्रमण स सुरक्षित रहने के लिए (आस्कन्दाय) सभा म स्थित (सभा स्थाणुम) को प्रकट कर।[2] इस सकेत स ज्ञात होता है कि आक्रमण स सुरक्षित रहन के लिए सभा सुरक्षित स्थान समझा जाता थी। य आक्रमण किस प्रकार के होते होगे, स्पष्ट नहीं है। सम्भवत सभा म उस व्यक्ति को शरण मिलता था जिसके जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता अथवा सम्मान तथा प्रतिष्ठा आदि पर आक्रमण होना होगा, अर्थात् दूसरे स त्रस्त अथवा पीडित व्यक्ति की रक्षा सभा की शरण म आन स होती थी। किसी व्यक्ति के अधिकार पर आघात हुआ है ऐसी परिस्थिति के उपस्थित होन पर सभा उस व्यक्ति के उक्त अधिकार की रक्षा करता था और उस त्रस्त एव पीडित व्यक्ति के लिए उसके उस अपहृत अधिकार को पुन दिलान का निणय देती था।

यजुर्वेद के इस प्रसग का तात्पय यह है कि सभा के सदस्य दूसरो के अधिकार पर आक्रमण करन वालो के विरुद्ध निणय देत थे। इस प्रकार सभा एक प्रकार का न्यायालय था। इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद के एक अन्य मत्र द्वारा भी होती है। इस मत्र म प्राथना की गयी है कि सभा म हम जो पाप करें उस पाप का मोचन करने वाला तू है, अर्थात् प्रभु अथवा यत उस पाप का मोचन कर।[3] इसी तथ्य को दूसरे मत्र म अथववेद म इस प्रकार व्यक्त किया गया है—जो पाप सभा म हुए हैं उन्हें दूर कर।[4] इन प्रसगो से ज्ञान होता है कि सभा म भी पाप कर्म किये जा सकते थे। प्रश्न यह होता है यह कौन-सा पाप हो सकता है ? और उस पाप का सभा म होना क्योंकर सम्भव था ? सम्भवत यह वही पाप होगा जिसकी ओर वैदिक युग के बहुत पश्चात मानवधमशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थो मे सभा के प्रसगो म सकेत किया गया

१ ६।३० यजुर्वेद। २ १८।३० यजुर्वेद। ३ १७।२० यजुर्वेद।
४ ६।३।१५ अथववेद।

है। यह इस प्रकार है—यदि सभा के सम्मुख निर्णय हेतु प्रस्तुत किये विषय में अनृत अथवा अधर्मपूर्ण निर्णय दिया गया है और इस प्रकार जो पापाचरण हुआ है उस पाप का एक चौथाई अंश मात्र पापकर्ता (दूसरे को पीड़ा देने वाले अथवा अनाचार करने वाले अभियुक्त) का होता है। उस पाप के शेष भाग में एक तिहाई भाग सभाध्यक्ष का, एक तिहाई अंश असत्य साक्ष्य देने वाले व्यक्ति का और अवशिष्ट एक तिहाई अंश सभासदों का होता है।[1] परन्तु जिस सभा में अन्यायी अथवा पापाचारी के अनुसार ही न्यायपूर्ण निर्णय दिया जाता है उस सभा में सभाध्यक्ष और सभासद सभी निष्पाप रहते हैं और उस पापाचारी अथवा अनृतवादी (वादी प्रतिवादी अथवा साक्षी) को सम्पूर्ण पाप होता है। जिस सभा में न्याय नहीं होता उस सभा में पाप का आधा अंश सभाध्यक्ष को अवशिष्ट आधे का आधा उस सभा के उन सभासदों को लगता है जो सभा में बैठ कर निन्दित पुरुष की निन्दा नहीं करते और उस पाप का चतुर्थांश मात्र पापकर्ता को लगता है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि वैदिक संहिताओं में जिस सभा का उल्लेख है उसका प्रधान कार्य धर्म निर्णय अथवा न्याय वितरण करना था। सभा के इस प्रधान कार्य के अतिरिक्त उसके अन्य कार्य भी रहे होंगे जिनका और वैदिक साहित्य में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता है। वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन में समय समय पर उपस्थित होने वाली महत्वपूर्ण समस्याओं की गुत्थियों का सुलझाना भी सभा का कार्य रहा होगा। समाज में विवादग्रस्त कतिपय विशेष समस्याओं पर विचार करना और तदनुसार निर्णय देना सभा के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत अवश्य रहा होगा।

सभा की कार्य प्रणाली

सभा के कार्य संचालन हेतु किस प्रकार की प्रणाली का आश्रय लिया जाता था इस विषय में वैदिक साहित्य में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। इसलिए वैदिक सभा की कार्यप्रणाली के विषय में किसी निश्चित मत का निर्धारण किया जाना असम्भव जान पड़ता है। इतना अवश्य है कि अथर्ववेद में एक दो अप्रत्यक्ष संकेत सभा की कार्य

१ १८।८ मानवधर्म शास्त्र। ७९।६८ सभापर्व महाभारत।
२ १९।८ मानवधर्मशास्त्र। ८०।६८ सभापर्व, महाभारत।

विशेष प्रशंसनीय माने जाते थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि प्रतिवादी, साक्षी आदि को भी सम्बन्धित विषय पर निर्णय देने के लिए सभा में बुलाया जाता होगा और सम्बन्धित घटना अथवा विषय में सत्य तथ्य पहुँचने के लिए उनको भी विधिवत् सुनने का समुचित अवसर दिया जाता होगा।

सभा में प्रस्तुत विषय पर उसके प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था। जिस समय सभा का कोई सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए सभा में बोलता था उस अवधि में सभा के दूसरे सदस्यों को बोलने का अधिकार न था। वक्ता का भाषण समाप्त हो जाने पर अथवा उसके बोलने के निर्धारित समय के समाप्त हो जाने पर सभा के अन्य सदस्यों को बोलने का अधिकार था। इस तथ्य की पुष्टि अथर्ववेद में इन शब्दों में की गयी है। सभा का सदस्य कहता है—जब मैं सभा में भाषण करूँ तब तू भाषण मत कर, मेरे भाषण की समाप्ति के उपरान्त तू भाषण कर।

सभा की कार्यवाही सभा के सभापति के निर्देशन में सम्पन्न होती थी। इस प्रकार सभा का संचालन निर्धारित निश्चित नियमों के अनुसार सभापति के अनुशासन में होता था।

सभा की न्यायसमिति

अथर्ववेद के एक मन्त्र में सभा के सदस्यों को सभ्य और सभासद नाम से सम्बोधित किया गया है।[1] इस संकेत से ऐसा अनुमान होता है कि सभा के सभी सदस्य सामान्य तया सभासद कहलाते थे। परन्तु इन में कुछ सभासद ऐसे भी होते थे जिनमें सामान्य सभासदों की अपेक्षा कतिपय विशेष योग्यता एवं गुण होते थे। उनकी इस विशेषता के कारण उन्हें कुछ विशेष कार्य सौंप दिये जाते थे, जिनका विधिवत् सम्पादन करना उनका कर्तव्य समझा जाता था। उनका यह विशेष कार्य न्याय सम्बन्धी था। इस श्रेणी के सभासदों को सभ्य की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

इस प्रकार सभा की एक उपसमिति होती थी जो वैदिक राज्य में सर्वश्रेष्ठ न्यायालय का रूप धारण किये हुए थी। इस उपसमिति का कार्य न्याय की स्थापना था। सभा की इस उपसमिति के सभासद सभ्य कहलाते थे। प्राचीन भारत में

१ ४।३१।७ अथर्ववेद।   २ ५।५५।१९ अथर्ववेद।

सम्य न्यायालय रह हैं। न्याय क्षेत्र म व सक्रिय योगदान करत थे। जनता म उनका विशष महत्त्व एव आदर था। ऐसा ज्ञात होता है कि इन सम्य न्यायालयो का विकास वदिक समा की इसी उपसमिति म हुआ है। शुक्रनीति के रचना-काल तक सम्य न्याया लय अपन चरम विकास को प्राप्त हो चुके थ[1] लाक म उनकी विशष प्रतिष्ठा एव महत्व था। मानवधमशास्त्र क रचना-काल म भी सम्य न्यायालय महत्त्वपूर्ण एव सम्मानित न्यायिक सस्थाएँ समझी जाती थीं।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वदिक समा म एक न्यायसमिति होती थी जिसका निर्माण सभा अपन विशेष योग्य सभासदो स करती थी। ये सम्य वदिक समा की इस उपसमिति म बठकर न्यायकाय का सम्पादन करत थे।

नारी सदस्य

वदिक सहिताओ म एक भी ऐसा सकत उपलब्ध नहीं है, जिसक आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सक कि वदिक समा की सदस्यता नारियो को भी प्राप्त थी। इसलिए इस विषय म मौन रहना ही उचित है। उत्तर वदिक साहित्य म कुछ एस प्रसग अवश्य है, जिनम कुछ ऐसी नारियो का उल्लख है जो ब्रह्मविद्या की जिज्ञासु थी और व विद्वत्परिषदो क शास्त्रार्थो वाद विवादो म भाग लती हुई वर्णित हैं। गार्गी न एस ही एक सम्मलन म सभानेत्री का आसन ग्रहण किया था।[3] परन्तु वदिक समा क सदभ म ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है जिसम नारी सभासदा का कहीं भी उल्लेख किया गया हो। इसलिए यह विषय अभी शोध हतु समस्या ही बना हुआ है। इतना अवश्य है कि वदिक सहिताओ म कतिपय ऐसी नारियो का उल्लख है जो ब्रह्मवादिनी थी और उनक नाम स कुछ वदिक ऋचाएँ भी उपलब्ध हैं।[4]

इस प्रकार सभा वदिक आर्यों की महत्त्वपूर्ण सस्था थी जो वदिक सहिताओ के युग म महत्त्वपूर्ण काय सक्रिय रूप मे करती हुई उनके जीवन के विकास म समुचित भाग दती रहती थी।

१ ५५।७४ शुक्रनीति। २ १०।८ मानवधमशास्त्र।
३ ३।६।३ बृहदारण्यकोपनिषद।
४ विश्पला, घोषा अपाला, लोपामुद्रा आदि।

समिति

समिति की प्राचीनता

वेद कालीन सस्थाग्रा का उल्लेख जिस रूप म वदिक साहित्य म प्राप्त है उसस यह नात होता है कि समा ग्रोर समिति वदिक प्रार्यों की दा मुख्य सस्थाएँ थी। उनकी इन दोना सस्थाग्रा न उनक जीवन के विकास म महत्वपूण सहयोग दिया था। उनके जीवन मे उनके लिए सभा जितनी महत्त्वपूण एव उपयागी थी उसस किसी ग्रश म भी न्यून महत्त्वपूण एव उपयोगी समिति न थी। वदा म समिति को पुरातन सस्था बतलाया गया है। ग्रथववेद म समिति को सभा का यमज मगिनी ग्रौर प्रजापति की दुहिता बतला कर सम्बोधित किया गया है।[1] वदिक दशन के ग्रनुसार एक एसा समय भी था जब सम्पूण जगत ग्रव्यक्त ग्रवस्था म था। कुछ समय के उपरान्त ग्रव्यक्त जगत व्यक्त ग्रवस्था म प्रकट हुग्रा। ग्रव्यक्त जगत के व्यक्त होने के समय सब प्रथम ग्रादि पुरुष ग्रथवा विराट पुरुष प्रकट हुग्रा। उस पुरुष क ग्रगा प्रत्यगा से चर ग्रौर ग्रचर सभी प्रकार की सष्टि की उत्पत्ति हुई।[2] सष्टि के इसी रचना-काल म कतिपय वदिक सस्थाग्रा का भी जन्म हुग्रा। इन ग्रादि कालीन वदिक सस्थाग्रा म समिति भी थी। ग्रथववेद म इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि विराट पुरुष से समिति का जन्म हुग्रा था।[3] ग्रव्यक्त जगत किस प्रकार व्यक्त ग्रवस्था म ग्राया इस विषय म एक ग्रौर प्रसग उसम है। इस प्रसग म व्रात्य (ग्रादि पुरुष) द्वारा ग्रव्यक्त जगत का व्यक्त होना वर्णित है। इस प्रसग म यह भी वणन है कि व्रात्य ने गमन क्रिया उसके पीछे पीछे सभा समिति ग्रौर सेना व्यक्त होकर गमन करने लगा।[4]

ग्रथववद क उपयुक्त प्रसग समिति का पुरातन सस्था होना सिद्ध करते हैं। इन प्रसगो के ग्रनुसार समिति उतनी ही पुरातन है जितने कि प्रजापति विराट पुरुष ग्रौर व्रात्य पुरातन है। इसके ग्रतिरिक्त ऋग्वदीय ऋषियो ने भी समिति को ग्रपने समय की महत्त्वपूण एव सक्रिय उपयोगी सस्था के रूप म वणन किया है।[5] उनके समय म समिति का पूण विकास हो चुका था ग्रार वह जनकल्याण काय सम्पादन म सक्रिय

१ ११४।७ अथववेद। २ देखिए ऋग्वेद का पुरुषसूक्त।
३ १०।१०।८ अथववेद। ४ २।९।१५ ऋग्वेद।
५ ६।१७।१० और ६।९२।९ ऋग्वेद।

था।[1] इससे भी यह स्पष्ट है कि वैदिक समिति का जन्म ऋग्वेदीय ऋषियों के बहुत पूर्व हो चुका था। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि वैदिक समिति आर्यों की पुरातन संस्था थी।

समिति की उपयोगिता

अथर्ववेद के एक प्रसंग में अप्रत्यक्ष रूप में समिति की उपयोगिता की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत में बतलाया गया है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है वहाँ मित्र और वरुण जलवृष्टि नहीं करते, समिति वहाँ कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते।[1] अथर्ववेद के इस संकेत से यह स्पष्ट है कि वैदिक राज्य में समिति का अभाव अथवा उसका निष्क्रिय हो जाना लोक में महान् अनर्थ समझा जाता था। समिति-हीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। वैदिक आर्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं को परस्पर मिल जुलकर एवं विचारों के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और सम्पूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिन्तन कर तदनुसार साधनों के जुटाने में समिति का महान् सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की उपयोगी संस्था थी। उसके बिना उनके राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असम्भव था।

समिति के परिचय में असुविधाएं

वैदिक समिति का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसके बोध हेतु प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। वेदों में कहीं भी ऐसी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर समिति के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराया जा सके। वैदिक साहित्य में समिति के विषय में जो कुछ भी सामग्री आज हमें प्राप्त है वह सब की सब संकेत रूप में है। वह सांकेतिक सामग्री भी अस्पष्ट है। वेदों में प्राप्त इस अस्पष्ट एवं सांकेतिक अति अल्प सामग्री के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य साधन भी नहीं है जो समिति के वास्तविक स्वरूप के परिचय देने में सहायक हो सके। इसलिए वैदिक समिति के वास्तविक स्वरूप का बोध होना अति कठिन है। इतना होने पर भी समिति के विषय में जो कुछ भी अल्प एवं सांकेतिक तथा अस्पष्ट सामग्री वैदिक साहित्य में उपलब्ध है उसी का आश्रय ग्रहण कर समिति के स्वरूप की यथासम्भव रूपरेखा खींचने का प्रयास किया जायगा।

१ १५।१९।५ अथर्ववेद।

समिति का सगठन

समिति शब्द 'सम' और 'इति' के सयोग स बना है जिसका अर्थ एकत्र होना है। इस दृष्टि से समिति वदिक आर्यों की सावजनिक सस्था थी जिसमे राज्य के लगभग सभी वयस्क निवासी एकत्र होकर सावजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान मिल-जुलकर कर लेने के अधिकारी थे। इस प्रकार सभा और समिति के सगठन मे सब से महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था जो राज्य म विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे। परन्तु समिति की सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। राष्ट्र के लगभग सभी निवासी समिति म बठ सकते थे और उसकी कार्यवाही म भाग लेने के अधिकारी थे। इसलिए सगठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति कहीं अधिक उदार थी।

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवत समितिपति कहते थे। इसी समितिपति की अध्यक्षता में समिति की बठकें होती थी और आवश्यकतानुसार काय सम्पन्न होता था। अथववेद के एक मत्र म समिति के सदस्य को सामित्य कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि वदिक समिति का सदस्य सामित्य कहलाता था। समिति द्वारा निर्धारित की गयी नीति को वदिक भाषा म मन्त्र की सज्ञा दी गयी है।[2]

समिति की कार्यप्रणाली

ऋग्वेद म समिति का उल्लेख है। ऋग्वेद के एक प्रसग म प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति म एकमत हो समिति के सदस्यो के चित्त उनके मन और उनके द्वारा निर्णीत मत्र एव मत्र निर्णय की उनकी प्रक्रिया म एकमत रहे।[3] इस प्रार्थना स ज्ञात होता है कि वदिक आर्यों के सावजनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ उनके द्वारा समाधान हेतु समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। समिति म इन समस्याओं पर गम्भीर विवेचना की जाती थी और उनके समाधान हेतु वाद विवाद भी होते थे। इन वाद विवादो एव गहन विवेचना के उपरान्त समिति द्वारा उन पर अन्तिम निर्णय दिया जाता था जो समयानुसार यथासम्भव कार्यान्वित होता था। वाद विवाद कभी

१ ११।१०।८ अथववेद।　　२ ११।१०।८ अथववेद।
३ ३।१९१।१० ऋग्वेद।

कभी उग्र रूप भी धारण कर लेते थे और ऐसी परिस्थितियों मे मत्र निणय म कठिनाई उपस्थित होती थी। इसीलिए ऋग्वेद की इस ऋचा मे प्रार्थना की गयी है कि समिति में, मत्र निणय म, एकमत हो। ऋग्वेद म एक अन्य स्थल पर समिति का सम्बन्ध चित्त और व्रत से जोडा गया है। यह प्रार्थना सम्भवतः इसी आशय स की गयी जान पडती है कि समिति म उपस्थित मामिरय गण एक सकल्प करें और एक चित्त होकर प्रस्तुत सकल्प अथवा विचार पर अपने अपने मत व्यक्त करते हुए अत म एक ही निणय दें और इस प्रकार प्राप्त निणय पर दृढ रहें।

यजुर्वेद म समिति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। यजुर्वेद म समिति की ओर इस प्रकार उपेक्षा क्यों की गयी इसका कारण समझ मे नहीं आता[1]। इतना होने पर भी कुछ ऐसे प्रसग अवश्य पाये जाते है जिनम वैदिक आर्यों के सावजनिक जीवन की सफलता के लिए कतिपय विशेष गुणों एव योग्यताओं की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इस विषय में एक प्रसग मे अग्निदेव की प्रार्थना इस प्रकार की गयी है—हे अग्नि देव ! हमारे मन, हमारे व्रत (काय) और हमारे चित्त समान हो।[2] इस प्रार्थना म भी लगभग वही भाव व्यक्त किये गये हैं जो कि ऋग्वेद के उपयुक्त मत्रो म व्यक्त हुए है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक युग म सावजनिक समस्याओं के समाधान हेतु समिति के सदस्यों के मन उनके व्रत और उनके चित्त में एकता तथा समता रहने की आवश्यकता बतलायी गयी है। इस प्रकार समिति के सदस्यो म सुमति रहे इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

अथर्ववेद मे भी इन्हीं भावों की पुनरावृत्ति की गयी है। अथर्ववेद के एक प्रसग म ऋग्वेद के उपयुक्त मन्त्र की पुनरावृत्ति करते हुए प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति के सदस्यों के चित्त, उनके व्रत और उनके द्वारा निर्णीत मत्र म सवसम्मति रहे अर्थात समिति के सदस्यो म निरन्तर सुमति रहे।[3] वैदिक सहिताओं के इन प्रसगो से यह सिद्ध होता है कि समिति म वैदिक आर्यों की जीवन सम्बन्धी सामूहिक एव सावजनिक समस्याओं पर गम्भीर विचार किया जाता था, उनकी सूक्ष्म विवेचना की जाती थी। समिति के सदस्य प्रस्तुत प्रस्ताव (सकल्प) पर पृथक्-पृथक् अपना मत व्यक्त करते थे। इसम बहुधा वाद विवाद उग्र रूप भी धारण कर लिया करते थे। प्रस्ताव, इस प्रकार विवेचना हो जाने के उपरान्त बहुमत अथवा सवसम्मति स पारित किया जाता

१ ४।१६६।१० ऋग्वेद। २ ५८।१२ यजुर्वेद। ३ २।६४।६ अथर्ववेद।

था। प्रस्ताव का सवसम्मति द्वारा पारित किया जाना प्रशसनीय समझा जाता था। समिति द्वारा पारित प्रस्ताव यथा सामथ्य कार्यान्वित किया जाता था। राज्य की आन्त रिक एव वाह्य नीति का वरण किया जाना इसी सस्था के कायक्षत्र के अधीन था। प्रस्ताव का सकल्प और नीति को मत्र के नाम स वदिक भाषा म सम्बोधित किया गया है।[1]

समिति की बठको को कब और कितना पूव सूचना दी जानी चाहिए उसकी बठको म गणपूर्ति हतु सदस्यो की कितनी सख्या निर्धारित रही होगी मत गणना की क्या विधि थी आदि विषयो के बोध हतु तथ्यपूर्ण सामग्री का सवथा अभाव होने क कारण इन विषयो के सम्बध म सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। य विषय अभी समस्याए ही बन हुए है।

समिति के काय

वदिक समिति किन कार्यों का सम्पादन करन का अधिकारिणी थी, वदिक साहित्य म इस विषय का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु कुछ सकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनका आश्रय ग्रहण कर समिति द्वारा किय जाने वाले कार्यों का आशिक रूप म परिचय मिलन म सहायता मिल जाती है। यद्यपि य सकेत अप्रत्यक्ष रूप म ही इस ओर कुछ प्रकाश डालत हैं तथापि इस क्षेत्र मे उनकी उपयोगिता का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। वदिक सहिताओ म इस तथ्य की ओर सकेत किया गया है कि वदिक आय एकत्र होकर अपन राजा का वरण करते थ। इसस यह स्पष्ट है कि वदिक आय अपनी समिति के रूप म एकत्र होकर यह काय सम्पन्न करत थे। इस कथन की पुष्टि ऋक और अथव दोनो वेदो मे इन शब्दो म की गयी है—हे भावी राजन्! आय जनता (विश) तेरी कामना करती है। वह अचल है। तू भी सब प्रकार स दढ होकर राजपद पर प्रतिष्ठित हो जा! तू राष्ट्र स भ्रष्ट न हो।[2] अथववेद म स्पष्ट सकेत किया गया है कि आय जनता (विश) राजा का वरण करती है।[3] वदिक सहिताओ के इन प्रकरणो से स्पष्ट है कि समिति का एक प्रधान काय राष्ट्रवासियो के लिए राजा का वरण करना था।

१ ३।१९१।१० ऋग्वेद। २ १।१७३।१० ऋग्वेद।
३ १।८७।६ अथववेद। ३।४।३ अथववेद।

वेदा म कुछ प्रसग ऐसे भी हैं जिनम निष्कासित राजा की पुन स्थापना हेतु व्यवस्था दी गयी है। ऋग्वेद के एक मन्त्र म इस ओर स्पष्ट सकेत किया गया है।[1] अथर्ववेद म कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनम राजपद पर निष्कासित राजा की पुन स्थापना हेतु प्रार्थना की गयी है।[2] इन प्रकरणो स यह स्पष्ट हो जाता है कि समिति निष्कासित राजा की पुन स्थापना करने की अधिकारिणी होती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समिति वैदिक आर्यों की प्रभुता-सम्पन्न (Sovereign) सस्था थी।

इस महत्त्वपूर्ण काय के अतिरिक्त समिति के कतिपय अन्य काय भी थे। राज्य की नीति का निर्धारण करना समिति का प्रधान कर्त्तव्य था। राष्ट्रवासियो के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओ पर गम्भीर एव विवेचनात्मक प्रणाली द्वारा विचार करना और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, जैसा कि उचित होता समिति के अधिकार क्षेत्र की परिधि म था।

इस प्रकार राष्ट्रवासियो के लिए नूतन राजा का वरण करना अनुपयुक्त एव अयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, निष्कासित राजा को राजपद हेतु आमन्त्रित कर राजपद पर उसकी पुन स्थापना करना, राज्य की नीति का निर्धारण करना राष्ट्रवासियो के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओ पर विवेचनात्मक प्रणाली स विचार कर उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना आदि काय समिति के क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते थे।

इस प्रकार उपयुक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक युग म समिति नाम की सस्था वैदिक आर्यों की महत्त्वपूर्ण सस्था थी। वैदिक आर्यों के सावजनिक जीवन म इसका विशेष महत्त्व था। इस सस्था ने उनके सावजनिक जीवन के विकास म उल्लेखनीय सहयोग दिया था।

विदथ

विदथ की प्राचीनता

वैदिक आर्यों की सावजनिक सस्थाओ म विदथ भी महत्त्वपूर्ण सस्था थी। विदथ एक विशेष प्रकार की सस्था थी। वह सभा और समिति से भिन्न थी। उसका स्वरूप

१ ५।७१।७ अथर्ववेद। २ ३, ४, ५।३।३ अथर्ववेद।

विद्या एवं ज्ञान सम्बन्धी था। ऋग्वेद में विदथ का उल्लेख अनेक प्रसंगों में है। इससे विदथ की प्राचीनता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के इन प्रसंगों से ऐसा ज्ञात पड़ता है विदथ भी सभा और समिति के समान ही वैदिक आर्यों की एक पुरातन विशिष्ट सार्वजनिक संस्था थी जो विद्या, ज्ञान और सेना से विशेष सम्बन्ध रखती थी।

विदथ के विषय में अनेक मत

विदथ के विषय में विद्वानों में विविध मत हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के आठवें सूक्त के प्रथम मन्त्र के आधार पर मि० जिमर विदथ के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी।[1] विदथ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व न था। मि० राथ के मतानुसार विदथ मूल संस्था थी। उसी से समिति, सभा और सेना की उत्पत्ति हुई थी।[2] मि० ह्विटनी ने *अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के तेरहवें सूक्त के चौथे मन्त्र के* आधार पर विदथ को एक प्रकार की परिषद् बतलाया है।[3] डा० आर० एम० शर्मा के मतानुसार विदथ का विशेष सम्बन्ध सेना से था और तदनुसार विदथ सैनिक कार्यों का सम्पादन करने वाली वैदिक संस्था थी।

विदथ के स्वरूप के विषय में इन विद्वानों का चाहे जो मत क्यों न रहा हो परन्तु वैदिक संहिताओं में उसका उल्लेख जिन प्रसंगों में हुआ है उनका गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मत सर्वांश सत्य नहीं माने जा सकते। वेदों में विदथ के विषय में जो वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त हैं उनसे ज्ञात होता है कि विदथ स्वतंत्र संस्था थी। वह समिति, सभा आदि की पुत्री अथवा जननी न थी। विदथ शब्द की उत्पत्ति विद् धातु से होती है जिसका अर्थ सत्य की खोज करना है। इसलिए विदथ वह संस्था थी जिसमें सत्य की खोज की जाती थी। इस दृष्टि से विदथ को विद्वत्परिषद् मानना न्याययुक्त होगा। इस दृष्टि से डा० अल्तेकर ने विदथ के स्वरूप के विषय में

१ Vedic Index page 199 Macdonell and Keith

२ ५।३८।३, ४।१।२, ६।२६।३ ऋग्वेद।

३ अथर्ववेद, ह्विटनी संस्करण।

४ जे० बी० आर० एस० १९५२, पृष्ठ ४२९।

जो अपना मत व्यक्त किया है वह तथ्ययुक्त है। उन्होंने भी विदथ को विद्वत्परिषद माना है। ऋग्वेद के एक प्रसग म विदथ को आन्तर्दशिया की सस्था बतलाया गया है।[1] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसग म बतलाया गया है कि विदथ म विद्वान् ब्राह्मण एकत्र होते थ।[2] ऋग्वेद के एक प्रसग म अग्नि की ज्वाला विदथ को पताका बतलायी गयी है।[3] इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि विदथ विद्वत्परिषद थी जिसम प्राणी मात्र के कल्याण सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयो पर विद्वत्तापूर्ण चिन्तन किया जाता था और तद नुसार निर्णय दिया जाता था। इसमे अनगल विषयो पर विचार करन का अवसर नही मिलता था। वैदिक यज्ञो से इसका विशेष सम्बन्ध रहता था।

विदथ की सदस्यता

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विदथ एक विशिष्ट वैदिक सस्था थी जिसमे विद्वान ब्राह्मण सदस्य होते थे और वह ब्रह्मज्ञान की खोज एव उसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन समझी जाती थी। इसलिए विदथ की सदस्यता का अधिकार विद्वान ब्राह्मणो को ही विशेष रूप म प्राप्त था। सब सामान्य नर-नारियो को इसकी सदस्यता प्राप्त न थी। विदथ के सार्वजनिक उत्सवो म सार्वजनिक जनता भी उपस्थित हो सकती थी और उसम जो धार्मिक कृत्य किये जाते थे अथवा महत्वपूर्ण विषयो पर वाद विवाद होते थे उनस लाभ उठा सकती थी। परन्तु सदस्य की श्रेणी म वे परिगणित नहीं किये जा सकते थे। विदथ की सदस्यता कठिनाई स प्राप्त होती थी। विदथ की सदस्यता के लिए विशेष साधना की आवश्यकता होती थी जो वैदिक समाज म विशेष सम्मान एव प्रतिष्ठा पाना समझी जाती थी। इसीलिए विदथ की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे। ऋग्वेद के एक मत्र मे इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। इस मत्र मे बतलाया गया है कि विदथ की सदस्यता सोम की उपासना का प्रसाद है। यह पद उसे सोम की कृपा से प्राप्त हो सकता है।[4] इस सकेत स यह ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता की प्राप्ति हेतु साम की विभूतियो (सग) का धारण करना आवश्यक था। इसलिए विदथ की सदस्यता की प्राप्ति हेतु विशेष गुणो एव योग्यताओ का धारण करना अनिवार्य था।

१ २।१।२ ऋग्वेद। २ ३।९३।७ ऋग्वेद। ३ १।६०।१ ऋग्वेद।
४ २०।९१।१ ऋग्वेद।

विदथ के सदस्य की योग्यता

विदथ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए कतिपय विशेष योग्यताओं की आवश्यकता बतलायी गया है। वेदों में इन योग्यताओं के विषय में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मंत्र में विदथ का सम्बन्ध धीमान विप्रों से बतलाया गया है। इस प्रकार विदथ का सदस्य बनने के लिए सब प्रथम योग्यता बुद्धि एवं विद्या का धारण करना बतलाया गया है।[1] ऋग्वेद के एक मंत्र में अश्विनीकुमारों को यज्ञ में बुलाने के लिए प्रार्थना की गयी है कि वे यज्ञ में उसी प्रकार पधारने की कृपा करें जिस प्रकार देवस्तुति में कुशल ब्राह्मण विदथ में पधारते हैं।[2] इस सन्दर्भ में भी यह स्पष्ट होता है कि विदथ की सदस्यता हेतु विद्वता एवं ब्रह्मचर्य धारण करना आवश्यक समझा जाता था। यजुर्वेद के एक मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि यज्ञिक कर्मकाण्ड में निपुण धैर्यवान मनीषीगण विदथ में आसन ग्रहण करते थे। यजुर्वेद में दी गयी इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता के लिए वैदिक कर्मकाण्ड का पूर्ण ज्ञाता मननशील चिन्तक एवं धैर्यवान ब्राह्मण आवश्यक होता था। ऋग्वेद के एक प्रसंग में विदथ के कवियों की संख्या बतलायी गयी है।[5] इससे ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए पुरुष को क्रान्तदर्शी होना आवश्यक था।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त वाणी सम्बन्धी कतिपय विशेष योग्यताएं भी विदथ का सदस्य होने के लिए निर्धारित की गयी हैं। ऋग्वेद के एक प्रसंग में विदथ में आसन ग्रहण करने का अधिकारी वह पुरुष बतलाया गया है जो विदथ के सम्मेलनों में स्पष्ट ओजपूर्ण निर्भीक तथा सारयुक्त वचन बोलने में अभ्यस्त हो।[6] इस प्रकार विदथ की सदस्यता हेतु स्पष्ट ओजपूर्ण निर्भीक तथा सारगर्भित वाणी का प्रयोगकर्ता ब्राह्मण अधिकारी समझा गया है। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में विदथ की सदस्यता हेतु यथार्थ वक्ता होना आवश्यक योग्यता निर्धारित की गयी है।[7]

इस प्रकार वैदिक युग में धीमान विद्वान वैदिक कर्मकाण्ड में दक्ष क्रान्तदर्शी मनीषी धीर वीर यथार्थवादी स्पष्ट ओजपूर्ण निर्भीक तथा सारगर्भित वचन बोलने वाला पवित्र आचरणवान् ब्राह्मण विदथ की सदस्यता के योग्य समझा गया था।

१ ३।९३।७ ऋग्वेद। २ १३।३९।२ ऋग्वेद। ३ १।३९।२ ऋग्वेद।
४ ३।३४ यजुर्वेद। ५ २।१।३ ऋग्वेद। ६ १३।२।२ ऋग्वेद।
७ १।१६७।१ ऋग्वेद।

विन्थ का सदस्य सख्या, सदस्यो की नियुक्ति प्रणाली तथा नियुक्ति करने के अधिकारी, सदस्यो के कर्तव्य एव अधिकार उनकी कार्य प्रणाली आदि विषयो के सम्बन्ध मे वदिक साहित्य म तथ्यपूर्ण सामग्री का अभाव है। अत इन प्रश्नो के समाधान हेतु सप्रमाण कुछ भी कहा नहा जा सकता।

विदथ का अध्यक्ष

यह सम्भव नही कि विदथ जसी महत्त्वपूर्ण सस्था की बठकें इसके अध्यक्ष के बिना नियमानुसार सचालित की जा सकती हो। इसलिए विन्थ का अध्यक्ष होना स्वाभाविक है। वदिक साहित्य म इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ भी कहा नही गया है। इसम कतिपय एस सकत अवश्य है जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि विन्थ का एक अध्यक्ष भी होता था। विदथ का कार्यसचालन इसी अध्यक्ष के अधीन होता था। विदथ का यह अध्यक्ष उसकी बठको एव विशेष सम्मेलनो म विन्थ के सदस्यो को अनुशासन म रखता था। इसी अध्यक्ष के नियत्रण म रहते हुए विन्थ के सदस्य वाद ग्रस्त विषयो पर विचार करते थे और तदनुसार अपने मत पथक पथक व्यक्त करते थ। इस प्रकार विदथ के सदस्यो के मतो को जानकर उनके बहुमत अथवा सब सम्मति के आधार पर वे निर्णय पर पहुँचते थे और तदनुसार उक्त निर्णय को यथासम्भव कार्यान्वित करते थे।

विन्थ का यह अध्यक्ष प्रधान पुरोहित होता होगा जिसे वदिक साहित्य म ब्रह्मणस्पति की उपाधि दी गयी है। अथववेद के एक मत्र म पुरोहित को ब्रह्मणस्पति की उपाधि स सम्बोधित किया गया है। इस मत्र म पुरोहित को उद्बोधित करते हुए इस प्रकार प्राथना की गयी है—हे पुरोहित! उठ विद्वान ब्राह्मणो का यज्ञ द्वारा उद्बोधन कर अथवा देवो को मत्र द्वारा जाग्रत कर। यजमान की आयु, प्राणशक्ति, सन्तति, कीर्ति और उसके पशुओ की वद्धि कर।[1] ब्रह्मणस्पति को ऋग्वेद म विन्थ का सचालक एव नियन्ता बतलाया गया है।[2] इसस स्पष्ट है कि प्रधान पुरोहित विन्थ का अध्यक्ष होता था।

विदथ के कार्य

वेदो म विन्थ का सम्बन्ध यज्ञ के सम्पादन से जोडा गया है। इसस ज्ञात होता है कि विदथ का सर्वोपरि वदिक कार्य वदिक यज्ञो का आयोजन करना और

१ १।६३।१९ अथववेद। २ १९।२३।२ ऋग्वेद।

उनका विधिवत् अनुष्ठान करना था। यज्ञ सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्मकाण्ड के व्यावहारिक रूप का निर्धारण करना और उसे तदनुसार कार्यान्वित करना विदथ का प्रधान कार्य था। यज्ञों के अनुष्ठान सम्बन्धी सिद्धान्तत अथवा व्यावहारिक कृत्यों के विषय में विद्वानों में जो जो भिन्न मत होते थे उनका हेतुयुक्त समाधान कर उन्हें एकरूपता देना इस संस्था का दूसरा मुख्य कर्तव्य था। इस प्रकार विदथ का सर्वोपरि कर्तव्य वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान में जो गुत्थियाँ अथवा अड़चनें समय-समय पर आती रहती थीं उनका हेतुपूर्ण समाधान तथा शमन करना रहता था।

विदथ का मुख्य कर्तव्य सत्य की खोज करना और उसके साधनों को जुटाना भी था। वाल्क ४। में सत्य को ही धर्म माना गया है।[1] इसलिए लोक को धर्मपथ प्रदर्शन करना इस संस्था का विशेष कर्तव्य था। इस प्रकार वैदिक जीवन के अनुसार लोक के परम एवं चरम ध्येय की उपलब्धि के लिए सुपथ प्रशस्त करने की योजना का प्रस्तुत करना तथा सत्य की खोज करना विदथ का उद्देश्य था। इसलिए विदथ लोक में जीवन के उन तत्वों की खोज में निरन्तर संलग्न रहता था जो सत्य एवं चिरन्तन हैं और जिनकी उपलब्धि मनुष्य को अमरत्व पद की प्राप्ति कराती है।

इस प्रकार विदथ वैदिक आर्यों की वह संस्था थी जिसमें ब्रह्म, जीव आत्मा प्राण, मन, प्रकृति आदि से सम्बन्धित जटिल एवं रहस्यपूर्ण समस्याओं का समाधान किया जाता था। विदथ में इन विषयों पर प्रवचन, वाद विवाद परस्पर विचार विनिमय आदि का आयोजन किया जाता था। वाद विवाद कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर लेते थे। इसीलिए उग्र वाद विवादों के नियन्त्रण हेतु वेदों में यत्र-तत्र प्राथनाएँ की गयी हैं। साथ ही इस विषय की भी प्रार्थना की गयी है कि विदथ में प्रशस्त वाणी का ही प्रयोग होना चाहिए।

यह सम्पूर्ण प्रामाणिक सामग्री विदथ की विद्वत्सभा अथवा विद्वत्परिषद से जिसका विशेष सम्बन्ध यज्ञ और सत्य की खोज से था निर्धारित करने की पोषक है और इस आधार पर विदथ के लगभग वही कार्य थे जो कि वैदिक युग में विद्वत्परिषद के कार्य हो सकते थे। वैदिक युग के उपरान्त विदथ नाम की यह संस्था लुप्त हो गयी और इसका स्थान विद्वत्समिति अथवा विद्वत्परिषद ने ग्रहण कर लिया।

१ १४।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद।

अध्याय ११

दूत और चर व्यवस्था

दूत की उपयोगिता

दूत-पद का निमाण सवप्रथम कब, कहा और किसके द्वारा हुआ यह प्रश्न अभी तक शोध का विषय ही बना हुआ है। जहा तक मानव स्मृति का सम्बन्ध है, यह निश्चित एव निविवाद है कि दूत पद नूतन नही है। दूत पद पुरातन काल स चला आ रहा है। लाक म राज्य व्यवस्था के निर्माण के साथ ही दूत की आवश्यकता अनुभव की गयी होगी। प्राचान भारत म राज्य क सुसचालन हतु दूत और चर के सहयाग की आवश्यकता स्वीकार का गयी है। ये दोना राजकमचारी उपयोगी और आवश्यक बतलाये गये हैं। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओ ने राजा के कतव्य पालन क लिए दूत और चर की उपयोगिता प्रमाणित की है। उन्होने दूत और चर का क्रमश राजा का मुख और उसक नेत्र बतलाया है।[1] राजा अपने दूत मुख द्वारा बात किया करत है और अपन चर चक्षु द्वारा दखा करत है। राजा क सो जान पर भी उसका य दोनो इन्द्रिया निरन्तर काय करती रहती है।[2] राजाओ म परस्पर बात करन का प्रधान साधन दूत बतलाया गया है। राजा का सन्देश उसके दूत द्वारा अन्य राजा अथवा राजाओ तक पहुचाया जाता है और उसी प्रकार अन्य राजाओ क सदेश उनके दूतो द्वारा उस राजा को प्राप्त होत रहत है। दूत द्वारा राजाओ म परस्पर सन्देश के आदान प्रदान की यह प्रणाली प्राचीन काल से निरन्तर प्रचलित रही है। इसीलिए प्रत्येक राज्य म दूत-पद महान् उपयोगी एव आवश्यक समझा जाता है। वदिक सहिताओ म भी दूत पद की उपयोगिता एव आवश्यकता क प्रमाण मिलत है। उस युग म दूत पद वदिक आर्यों मे प्रतिष्ठित माना जाता था। ऋग्वेद म दूत का यशस्वी कहकर सम्मानित किया गया है।[3]

उत्तर वदिक साहित्य म भी दूत की उपयोगिता के प्रमाण उपलब्ध है। सफल

१ १६।१६।१ अर्थशास्त्र। २८ से ३०।१२ कामन्दकनीति।

२ २।१०६।१० ऋग्वेद। ३ ऋग्वेद।

दूत असाध्य कार्यों को भी साध्य बनाने में समर्थ माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में सफल दूत की उपयोगिता को लक्षित करने के लिए कुछ उपाख्यान दिये हुए हैं। उनमें एक इस प्रकार है—देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। दोनों एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उनके मध्य गायत्री रूप पृथ्वी उपस्थित हुई। देव और असुर दोनों जानते थे कि पृथ्वी जिस पक्ष में रहेगी वह ही विजयी होगा। दोनों ने पृथ्वी को अपनी ओर करने के लिए पृथ्वी के पास अपने अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का दूत सह रक्षस हुआ। अग्नि दूत अपने कार्य में सफल हुआ। फलस्वरूप पृथ्वी देवों के पक्ष में आ गयी। इस प्रकार देव विजयी हुए।[1]

इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में एक और उपाख्यान दिया हुआ है जो इस प्रकार है—किसी कारण कुपित होकर वाक् सिंहनी का रूप धारण कर देव और असुरों को पकड़ने लगी और उनका नाश करने में तत्पर हुई। देव और असुर दोनों ने उसे अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। दोनों ने इस कार्य हेतु अपने अपने दूत उसके पास भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का सह रा [illegible] हुआ। देवों का दूत अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और इस प्रकार वह वाक् को समझा कर देवों के पक्ष में ले आया।[2]

इस प्रकार वैदिक युग में दूत की उपयोगिता प्रमाणित की गयी है और यह स्पष्ट सिद्ध किया गया है कि कुशल दूत की सफलता में उसके राजा के दुःसाध्य कार्य भी सुसाध्य बन जाते हैं।

देवदूत

वैदिक साहित्य में अनेक देवों का उल्लेख है। इन देवों में कुछ ऐसे भी देव हैं जिन्हें देवगणों के दूत की उपाधि से विभूषित किया गया है। वेदों में अग्नि को आदर्श दूत बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में सूर्य का दूत अग्नि बतलाया गया है।[3] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्नि को देव दूत कहकर सम्बोधित किया गया है। इसी वेद में अग्नि अन्न का दूत बतलाया गया है। इसी वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्नि प्रजा (विश) का दूत वरण किया गया है।[5] इसी प्रकार अन्य वैदिक साहित्य

१ १।३।३।३४ शतपथ ब्राह्मण।　　२ २१–२२।१।५।३ शतपथ ब्राह्मण।
३ १।५८।१ ऋग्वेद।　　४ २।९।४ ऋग्वेद।　　५ ५।३६।१ ऋग्वेद।

में भी अग्नि को दूत की उपाधि दी गयी है। अग्नि पदार्थों को जलाकर भस्म कर देता है और भस्म किये गये पदार्थ के सार को ग्रहण कर एक स्थान से दूसरे स्थान में ज्यों का त्यों पहुँचा देता है। दूत भी अपने क्षेत्र में यही कार्य करता है। दूत अपने स्वामी का सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है और उस सन्देश को ज्यों का त्यों निश्चित स्थान तक ले जाकर निर्दिष्ट व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत करता है। वेदों में वायु को भी दूत की संज्ञा दी गयी है और तदनुसार उसे भी दूत कहकर सम्बोधित किया गया है।[1]

इन देवदूतों के अतिरिक्त कतिपय पक्षियों को भी दूत बनाये जाने की ओर वेदों में संकेत किये गये हैं। ऋग्वेद में यम के ऐसे कुछ दूतों का उल्लेख है। कपोत और उलूक पक्षी यम देव के विशेष दूत बतलाये गये हैं।[2] अथर्ववेद में कपोतों और उलूकों को निऋति देव के दूत की संज्ञा दी गयी है।[3]

वैदिक साहित्य के इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में देवों में दूत व्यवस्था की कल्पना वैदिक ऋषियों के द्वारा की जा चुकी थी। इससे यह भी स्पष्ट है कि वैदिक आर्य दूत व्यवस्था के सम्यक् संगठन एवं उसके विधिवत् संचालन की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव कर चुके थे।

राजदूत

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वैदिक देवों में दूत-व्यवस्था अपनायी जा चुकी थी। इस आधार पर यह स्वीकार किया जाना कि वैदिक आर्य राजा का निर्माण हो जाने के उपरान्त राज्य के सुसंचालन हेतु दूत-व्यवस्था का आश्रय अवश्य लिया गया होगा न्याययुक्त होगा। जो जाति अपने वेदों में सुशासन हेतु दूत-व्यवस्था की स्थापना की कल्पना कर सकती और उस व्यवस्था की आवश्यकता एवं उपयोगिता का अनुभव कर सकती थी वह जाति अपने राज्य में उस व्यवस्था को स्थान न दे सम्भव नहीं है। इसलिए यह सर्वमान्य जान पड़ता है कि वैदिक आर्य राज्यों में अपने समय के अनुसार दूत-व्यवस्था को भी यथासम्भव स्थान दिया गया था।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कतिपय स्पष्ट प्रमाण भी हैं जिनमें इस विषय का उल्लेख है कि वैदिक आर्य राज्यों में दूत-व्यवस्था का संचालन

१ ३।१३।४ ऋग्वेद।[1] २ ४।१६५।१० ऋग्वेद। ३

विधिवत होता था। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में दूत-व्यवस्था आधुनिक युग की दूत व्यवस्था की अपेक्षा कम विकसित थी। वह अपनी शैशव अवस्था की स्थिति मात्र में थी।

ऋग्वेद के एक प्रसंग में दूत द्वारा वहन किये जाने वाले सन्देश को दूत्य और उसके कार्य को दूत्यकर्म की संज्ञा दी गयी है।[1] ऋग्वेद में कतिपय ऐसे प्रसंग भी सम्प्राप्त होते हैं जिनके गम्भीर एवं विधिवत अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय आर्य राजा दूत व्यवस्था को आवश्यक एवं उपयोगी समझते थे और दूत-प्रेषण कार्य में आस्था रखते थे। उस युग में दूत प्रेषण प्रथा का उदय हो चुका था और यह कार्य सुव्यवस्थित रूप में सम्पन्न होना उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर समझा जाता था। इस तथ्य की पुष्टि में सबसे स्पष्ट एवं ज्वलन्त प्रमाण ऋग्वेद के दसवें मण्डल का एक सौ आठवां सूक्त है। इस सूक्त में आर्य राजा इन्द्र की सरमा नाम की दूती और इन्द्र शत्रु पणियों के राजा के मध्य हुए एक महत्वपूर्ण संवाद का वर्णन हुआ है।

इस संवाद से ज्ञात होता है कि इन्द्र पणियों से धन प्राप्ति का इच्छुक था। पणि जाति उस युग में विशेष व्यापारी एवं धनी थी। इसलिए पणियों से धन की प्राप्ति हेतु इन्द्र ने इस उद्देश्य को अपनी सन्देश सरमा नाम की अपनी दूती द्वारा पणियों के राजा के पास भेजा था। इन्द्र ने अपनी इस दूती द्वारा यह सन्देश भेजा था कि पणियों का राजा उसे धन प्रदान कर दे। यदि वह राजा इन्द्र के इस आदेश की अव-हेलना करेगा तो पणियों को युद्ध हेतु कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस प्रसंग में इन्द्र की दूती सरमा और पणियों के राजा के मध्य जो संवाद ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त में प्राप्त है वह सामयिक होने के कारण यहाँ उद्धृत किया जाता है—

पणि राजा का वचन—

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।

कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१।१०८।१०

सरमा! तुम क्या किसी इच्छा की पूर्ति हेतु यहाँ आयी हो? यह मार्ग तो अति दूरी का है। इस मार्ग पर आते समय पीछे की ओर दृष्टि फेरने पर नहीं आना हो सकता। हमारे पास कौन-सी वस्तु है, जिसके लिए तुम यहाँ आयी हो? कितनी रातों में आयी हो? नदी के जल को किस प्रकार पार किया?

१ १।१६१।१ ऋग्वेद।

सरमा का उत्तर—

इन्द्रस्य दूती रिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन व ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत तथा रसाया अतर पयासि ॥२।१०८।१०

म इन्द्र का दूता बनकर आयी हूँ। पणियो मे धन प्राप्ति की मरी इच्छा (इन्द्र का इच्छा) है। जल न मरी रक्षा की है। जल स भय तो हुआ था, परन्तु उस लाँघ कर चला आयी। इस प्रकार म नदी पार कर चली आयी।

पणि राजा का वचन—

कीदृङ्ङिन्द्र सरम का दशीका यस्येद दूतीरसर पराकात।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवा गोपतिर्नो भवाति ॥३।१०८।१०

सरमा ! जिस इन्द्र की दूती बन कर तुम इतनी दूरी स आयी हो वह इन्द्र कसा है ? उसका कितना पराक्रम है ? उसकी कसी सना है ? इन्द्र (यहा) आये। हम उस मित्र बनान क लिए प्रस्तुत है। वह हमारा गायें लेकर उनका स्वामी बने।

सरमा वचन—

नाह त वेद दभ्य दभत स यस्येद दूतीरसर पराकात।
न त गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणय शयध्व ॥४।१०८।१०

जिस इन्द्र का दूता बन कर म दूर देश स आयी हूँ, उसे कोई हरा नहीं सकता। वह हा सब को हराता है। गहन-गम्भीर नदियाँ भी उसकी गति को रोकन म समर्थ नहा हैं। तुम्हें इस सम्पूर्ण जाति सहित निश्चय ही वह मार कर सुला देगा।

पणिराज-वचन—

इमा गाव सरमे या ऐच्छ परि दिवो अन्तान सुभगे पतन्ता।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥५।१०८।१०

सुन्दरी सरमा ! तुम स्वर्ग की सीमा पर स आ रही हो, इसलिए इन गौओ म स जिन जिन को चाहा तुम उन्हें ले सकती हो। बिना युद्ध के कौन तुम्हें गायें देता ? हमारे पास भी अनेक तीक्ष्ण आयुध हैं।

सरमा वचन—

असेन्या व पणयो वचास्यनिषव्यास्तन्व सन्तु पापी।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृडात ॥६।१०८।१०

तुम्हारी बातें सनिका के योग्य नहीं हैं। ये शरीर कहीं इन्द्र के **बाणों का लक्ष्य** न बन जायँ। तुम्हारे यहाँ आन का जो यह मार्ग है इस पर देव

न कर बठें। मुझे सन्देह है कि पीछे वृहस्पति बनेश देंगे—यदि तुम गौएँ नहीं द दागे तो आपदायें गनिवट हैं।

पणिराज-वचन—

अय निधि सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिवसुभिर्यृष्ट ।[1]

रक्षन्ति त पणयो ये सुगोपा रकु पदमलक्मा जगन्थ ॥७॥१०८॥१०

सरमा! हमारी सम्पत्ति पर्वतों के द्वारा सुरक्षित है—गायो अश्वो और अन्यान्य धनो स युक्त है। रक्षा कार्य म समर्थ पणि योद्धा इस विपुल सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। गायो द्वारा शब्दायमान हमारे स्थान पर तुम व्यर्थ ही आयी हो।

सरमा-वचन—

एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अगिरसो नवग्वा ।

त एतमूर्व वि भजन्त गोनामथैतद् वच पणयो वमन्नित ॥८॥१०८॥१०

अगिरस अयास्य ऋषि और नवगण सोमपान मे प्रमत्त होकर यहाँ आयेंग और इन सम्पूर्ण गायो का बटवारा करके इन्हें ले जायेंग। उस समय तुम्हें ऐसी उक्ति त्यागनी पडेगी।

पणिराज वचन—

एवा च त्व सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दव्येन ।[1]

स्वसार त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवा सुभगे भजाम ॥९॥१०८॥१०

सरमा! देवो ने भयभीत होकर तुम्हें यहाँ हमारे पास भेजा है। इसीलिए तुम यहा आयी हो। तुम्हें हम भगिनी स्वरूप समझते हैं। तुम अब लौट कर वहा मत जाना। सुन्दरी हम तुम्हें गोधन का अश देते है।

सरमा-वचन—

नाह वेद भ्रातृत्व नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरगिरसश्च घोरा ।[1]

गोकामा मे अच्छदयन यदायमपात इत पणयो वरीय ॥१०॥१०८॥१०

म भ्राता और भगिनी की कथा नही समझ सकती। इन्द्र और अगिरा वशीय जानते हैं कि गौएँ पान के लिए उन्होंने रक्षापूर्वक मुझे भेजा है। म उनका आश्रय पाकर आयी हूँ। पणि लोग यहाँ स दूर भाग जायें।

दूरमित पणयो वरीय उदगावो यन्तु मिनतीऋतेन ।

बहस्पतिर्या अविन्दन्निगूढहा सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्रा ॥११॥१०८॥१०

__ पणि लोग यहाँ से बहुत दूर भाग जायें। गौएँ कष्ट पा रही है। व धम के आश्रय म इस पवत स लाट चलें। बहस्पति, सोम, सोमाभिषवकर्ता पत्थर, ऋषि और मनावी लोग इस गुप्त स्थान म स्थित गाया का बात जान गये है।'

इस सवाद के आधार पर नात होता है कि ऋग्वदीय राजा दूत रखते थे। इन दूता क द्वारा राजा परस्पर वात किया करते थे। इन दूता के द्वारा राजाग्रा क सदशा का परस्पर आदान प्रदान हाना रहता था। दो राजाग्रा म परस्पर युद्ध की घोपणा हान क पूव विजयाभिलापी राजा अपने शत्रु राजा को इस विषय की सूचना देना अपना क्तव्य समभता था कि वह अमुक कारण से उसके विरुद्ध युद्ध करेगा। यदि वह युद्ध स बचना चाहता ह तो उस युद्ध के उस कारण का दूर कर देना चाहिए। शत्रु राजा अपने विरुद्ध राजा के दूत को येन केन प्रकारेण अपन पक्ष म कर लेन का भी प्रयत्न करता था। पणि नरश ने इन्द्र की दूती सरमा को अपन पक्ष म कर लेन का भरसक प्रयत्न किया था। उसन उसे अतुल धनराशि दन और उसे अपनी भगिना मान लन तक का प्रलोभन दिया था। परन्तु सच्चा दूत ऐसे प्रलाभन मे कभी नही फमता। वह अपन स्वामी का भक्त बना रहना अपना परम कर्तव्य समभता है। दूत की ऐसी योग्यता इस बात पर विशप रूप मे निभर समझी जाती थी कि वह अपने स्वामी के प्रताप का प्रकट कर शत्रु को आतकित करके अपन राजा के काय सम्पादन म किस मात्रा म सफलता प्राप्त करन म समय हाना है।

ऋग्वदीय दूत व्यवस्था म एक विशेषता यह भी थी कि पुरुप और स्त्री दोना दूत पद पर नियुक्त किये जात थे। इस दृष्टि म पुरुप और स्त्री दोना दौत्यकम करन क लिए समान अधिकारी थे। इन्द्र न सरमा नाम का नारी का दूत पद पर नियुक्त किया था। ऋग्वद म नारी दूत को दूता का सज्ञा दी गयी है।[1]

दूत की योग्यता

जिन गुणा एव योग्यताम्रा स दूत सम्पन्न होना चाहिए, वर्ना म उनका स्पष्ट वणन नही है। परन्तु उनम यत्र-तत्र कुछ एसे प्रसग अवश्य हैं जिनम दूत पद के निमित्त वाछनीय कुछ योग्यताम्रा की ओर सकेत प्राप्त हैं। ऋग्वेद के एक प्रसग म यह सकेत किया गया है कि दूत मित्र वरुण और अयमा के समान होना चाहिए। ऋग्वेद म

१ ३।१०८।१० ऋग्वेद।

प्राप्त इस सकेत से ज्ञात होना है कि दूत मित्र देव के समान प्राणी मात्र का हितैषी वरुण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायकारी होना चाहिए। ऋग्वेद म इसी प्रसग म व्यवस्था दी गयी है कि जो पुरुष इन गुणा से युक्त अपने दूत रखते हैं वे विजयी होते हैं। ऋग्वेद के इस प्रसग के अनुसार दूत प्राणी मात्र का हितैषी उदार तथा न्यायकारी होना चाहिए। इन गुणा स युक्त दूत सफल श्रेणी मे परिगणित होते थे।

ऋग्वेद के एक अन्य प्रसग म सकेत किया गया है कि दूत अग्नि के समान गृहपतियो एव राष्ट्रवासियो (विश) म आनन्द की वृद्धि करने वाला होना चाहिए।[1] इस सकेत के आधार पर ऋग्वेद के अनुसार दूत का आचरण एव व्यवहार राष्ट्रवासियो एव शासक वर्ग दोनो को आनन्दित करने वाला होना चाहिए।[2] ऋग्वेद के एक स्थल पर दूत के विशेष गुणा की ओर सकेत किया गया है। वे हैं यथोक्त कथन और सन्देश वहन करने एव उसके प्रस्तुत करने म विलम्ब न करना।[3] इसी प्रसग म ऋग्वेद के एक मत्र म दूत के लिए तन्द्रा रहित होना एक विशेष गुण निर्धारित किया गया है।[4] इसलिए दूत तन्द्रा-त्यागी व्यक्ति होना चाहिए। उसे आलस्य प्रमाद दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुणा स सर्वथा मुक्त होना चाहिए। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर श्रेष्ठ दूत के कतिपय लक्षण इस प्रकार सकेत रूप म वर्णित हैं—दूत श्रेष्ठ एव बलवान पुरुष होना चाहिए। उसे यथोक्तवादी तथा भ्राता तुल्य सहायक होना चाहिए। दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठ कुल म उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए।[5]

इस प्रकार ऋग्वेद म दूत पद के लिए उच्च कोटि की योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं। ये गुण अथवा योग्यताएँ मुख्य तीन श्रेणियो म परिगणित की जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी की योग्यता के अन्तगत कुल की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। इस योग्यता के अनुसार दूत का वरण श्रेष्ठ कुल म उत्पन्न व्यक्तियो म स किया जाना चाहिए। इस प्रसग म श्रेष्ठ कुल स ऋग्वेद का क्या तात्पय है स्पष्ट नही है। सम्भवत श्रेष्ठ कुल का तात्पय आचरणवान कुल से समझा गया हो अर्थात वह कुल अथवा परिवार जो शुद्ध एव शिष्ट आचरण के लिए ख्याति प्राप्त कर चुका हो। दूसरी श्रेणी म दूत की वे योग्यताएँ आती है जिनका सम्बन्ध दूत के व्यक्तित्व स होना

१ ४।३६।१ ऋग्वेद। २ ५।३६।१ ऋग्वेद। ३ ८।४३।५ ऋग्वेद।
४ ५।१०।७ ऋग्वेद। ५ १।१६१।१ ऋग्वेद।

है। इस श्रेणी की योग्यताओं के अनुसार दूत बलसम्पन्न प्रसन्न मुद्रा में रहने वाला एवं निर्मल चरित्रवान व्यक्ति होना चाहिए। उसे प्राणी मात्र का हितैषी, उदार न्याय-प्रिय और भ्राता के समान दूसरों की सहायता करने वाला होना चाहिए। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत दूत पद के लिए विशेष रूप में वाञ्छनीय जो गुण एवं योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं वे हैं यथोक्तवादिता शीघ्र कार्य कर देने की क्षमता और तन्द्रा रहित होना।

इन गुणों एवं योग्यताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में दूत पद के लिए परम उपयोगी एवं आवश्यक गुण कार्यपटुता है अर्थात् दूत की विशेष सफलता इसमें है कि उसमें चरित्रबल व्यवहार पटुता एवं बुद्धिकौशल इस मात्रा में होना चाहिए जिसका आश्रय लेकर वह अपने स्वामी के कष्टसाध्य कार्य को भी सरल साध्य बना दे। ऋग्वेद में इन्द्र की दूती सरमा और शतपथ ब्राह्मण में देवों के दूत अग्नि को सफल कोटि के दूतों में परिगणित किया गया है। उनकी सफलता का मुख्य कारण उनमें इन्हीं गुणों एवं योग्यताओं का विशेष रूप से होना था। इन्हीं गुणों एवं योग्यताओं का आश्रय लेकर सरमा और अग्नि ने क्रमशः इन्द्र और देवों के कष्टसाध्य कार्य को सरल साध्य बना दिया था।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में दूत पद के लिए आवश्यक गुण एवं योग्यताएँ संकेत रूप में वर्णित की गयी हैं। दूत पद के लिए ये गुण एवं योग्यताएं आधुनिक युग में भी उतनी ही उपयोगी समझी जाती हैं जितनी कि वैदिक युग में उपयोगी समझी गयी थीं।

चर

वैदिक युग में चर व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी चर व्यवस्था की पुष्टि के प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है कि देव गण लोक के विषय की सूचना प्राप्त करने के लिए चर रखते थे। चर इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा रखते थे। इसके आधार पर चर लोग अपने स्वामी (देव) को तदनुसार सूचना दिया करते थे।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक युग में आर्य राजा भी अपने अधीन प्रजा के सुख-

१ ८।१०।१० ऋग्वेद।

दुख जानने के लिए चर रखते थे। चर हर समय अपने इस कर्तव्य पालन में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्य राज्यों में चर-व्यवस्था का उदय हो गया था।

वेदों में चर को स्पश नाम से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में वरुण देव अपने स्पश समूह में घिरे हुए वर्णित हैं।[1] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में वरुण देव अपने स्पशों के मध्य चारों ओर से घिरे हुए बैठे हैं ऐसा दृश्य दिखलाया गया है।[2] इसी वेद के एक अन्य स्थल पर इन्द्र अपने स्पशों के मध्य बैठे हुए दिखलाये गये हैं।[3] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने स्पश लोक में भेजे। अथर्ववेद के एक प्रसंग में वरुण देव की ओर संकेत करते हुए बतलाया गया है कि उनके स्पश अपनी सहस्रों आँखों से प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते हुए पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं।[5] अथर्ववेद के एक अन्य स्थल पर रुद्र के स्पश पद-पद पर स्थित बतलाये गये हैं।[6]

इस प्रकार वेदों में आये हुए इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में स्पश होते थे जो प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते थे और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त द्वारा स्पष्ट रूप में हो जाती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 'यम-यमी' नाम का एक सूक्त है। इस सूक्त में यम और यमी इन दो व्यक्तियों का संवाद है। इसका विषय काम-तृप्ति की तृप्ति हेतु यमी की यम से प्रार्थना और यम का उसकी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर देना है। यम और यमी भ्राता और भगिनी हैं। वे निर्जन स्थान में हैं। इस प्रसंग में काम वेदना से विशेष व्यथित होने के कारण यमी का विवेक नष्ट हो गया। यमी यम से अनुनय विनय पूर्वक स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करती है कि वह उसकी कामना को शान्त कर देने की कृपा करें। परन्तु यम उस के समक्ष लोकापवाद का भय प्रस्तुत करता है और इस प्रकार उसकी कामतृप्ति सम्बन्धी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है। ऐसा देखकर यमी यम से पुनः प्रार्थना करती हुई कहती है कि वह निर्जन स्थान में उसकी कामना शान्त कर दें और इस प्रकार उसके इस कार्य के देखने व सुनने का अवसर किसी अन्य प्राणी को न मिल सके। ऐसी दशा में लोकापवाद का लेश मात्र भी भय नहीं है। यमी के इस सुझाव को अस्वी-

१ १३।२५।१ ऋग्वेद। २ ३।८७।७ ऋग्वेद। ३ ८।३३।१ ऋग्वेद।
४ ३।४।४ ऋग्वेद। ५ ४।१६।४ अथर्ववेद। ६ ६।६।५ अथर्ववेद।

कार करता हुआ यम उस स कहता है—देवा के स्पश प्रत्येक स्थान पर हर समय भ्रमण करत रहते हैं। व प्राणिया के सभी शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते हैं और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचात रहत है। अपने इस कर्तव्य पालन म व लेशमात्र भी प्रमाद नही करत। इस प्रकार प्राप्त सूचना के आधार पर प्राणिया क सम्बन्धित शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्ह फल मिला करत है।'

ऋग्वद के उपर्युक्त 'यम-यमी' सूक्त के आधार पर इस विषय म लेशमात्र भी सन्देह नही रहता कि वदिक युग मे चर-व्यवस्था का उदय हो चुका था और वदिक आर्य इस व्यवस्था से भली भांति परिचित थे।

परन्तु इस प्रसग म यह स्पष्ट कर देना नितान्त आवश्यक है कि दूत और चरा के प्रकार उनकी नियुक्ति एव वियुक्ति के नियम उनके आचरण-व्यवहार नियम, विशेषाधिकार प्राधिकार आदि के विषय में किसी प्रकार की भी सूचना वदिक साहित्य म स्पष्ट रूप स प्राप्त नहीं है। इसलिए इन नियमा पर कुछ भी प्रकाश डाला जाना सम्भव नही है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि इस विषय का आशा करना कि वदिक युग म दूत एव चर-व्यवस्था का सगठन एव उसका सचालन तत्सम्बन्धी आधुनिक प्रणाली के समकक्ष रहा हो भूल होगी। आधुनिक युग म दूत एव चर व्यवस्था विशेष विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। परन्तु यह सहस्रो वर्षों के अनुभव की देन है। वदिक युग म ये सस्थाएँ एव तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ अपनी शशवावस्था म थी और इस प्रकार अविकसित या आशिक विकसित अवस्था म ही रहा। परन्तु [illegible] आर्यों के लिए यह कम गौरव की बात नही है कि आज से सहस्रो वर्ष पूर्व [illegible] दूत और चर के महत्त्व एव उनकी उपयोगिता को समझ लिया था, और [illegible] पर उन्होंने इन्हें अपने समकालिक राज्यो म उचित स्थान दिया था।

१ ८।१०।१० ऋग्वेद।

अध्याय १२
राज्य की रक्षा

राज्य के शत्रु

प्रत्येक राज्य के कुछ शत्रु हाते है जा उस नाश की ओर ले जाने के लिए निरतर प्रयत्नशील रहत है। य शत्रु उस सकट-ग्रस्त रखन और उसकी शान्ति एव सुव्यवस्था भग करने की सतत चेष्टा करते रहते हैं। इन शत्रुओ म उस राज्य के कुछ निवासी भी होते है। य निवासी अपने ही राज्य को निरतर क्षीण करन तथा दुबल बनाने म सलग्न रहते है अपन अनिष्ट अप्रिय एव दुष्ट कर्मों से राज्य को शन शन ऐसी परिस्थिति म कर देते है कि वह आत्मरक्षा करन म असमथ हो जाता है। राज्य का दूसरा शत्रु उस राज्य के समीपवर्ती राज्य हाते है। सभी राज्य बहुधा अपने पडोसी राज्य को दुबल तथा क्षीण कर देन एव उसकी भूमि हरण के लिए प्रयत्नशील रहते है। व हर समय इस टोह म रहत है कि हम कब अपन उस पडोसी राज्य की सीमास्थ भूमि दबोच लें अथवा किसी-न किसी प्रकार उस पर आक्रमण कर दें और इस प्रकार उस राज्य को अपन अधीन कर लें। प्राचीन भारत मे राज्य के इन दो श्रेणी के शत्रुओ को क्रमश आभ्यतर शत्रु एव बाह्य शत्रु की सज्ञा दी गया है।

इस प्रकार राज्य के दो शत्रु होते है जिन्हें प्राचीन भारत म आभ्यन्तर शत्रु और बाह्य शत्रु के नाम स सम्बोधित किया गया है। इन शत्रुओ से राज्य के मुक्त रहने पर राज्य की रक्षा निश्चित हो जाती है राज्य म शान्ति तथा सुव्यवस्था चिरस्थायी रहती है और राज्य सम्यक फलता फूलता रहता है। राज्य के लम्बे इतिहास म ऐसा कोई युग मानवस्मृति म नही हुआ है जब कि राज्य अपने इन शत्रुओ के भय से सवथा मुक्त रहा हो। राज्य के निर्माण काल से आज तक की अवधि पयन्त इन दोनो प्रकार के शत्रुओ स राज्य को किसी-न किसी रूप म भय अवश्य बना रहा है यद्यपि समय-प्रवाह के साथ साथ इस भय के स्वरूप आकार प्रकार प्रभाव आदि म देश काल और परिस्थिति क अनुसार परिवतन होते रहे हैं। इसी प्रकार राज्य के शत्रुओ द्वारा समय-समय पर उपस्थित किय गये भय के निराकरण हेतु राज्य द्वारा जिन साधनो एव उपायो

ही रही है। इससे यह स्पष्ट है कि वदिक आय राज्य के समक्ष भी यह समस्या थी कि समाज के इस दुष्ट वग का नियत्रण एव दमन किस प्रकार किया जाना चाहिए।

वदिक साहित्य का अ ययन करने से नात हाता है कि उस युग म भी मानव समाज म कुछ एस लोग थ जो दूसरा के जीवन उनकी सम्पत्ति स्वतत्रता, मर्यादा प्रतिष्ठा आदि पर आघात करत रहत थ। वेदा म यत्र-तत्र एस अनेक प्रसग है जिनम समाज के इन दुष्ट पुरुषा के नाश हेतु प्राथना की गयी ह। इन प्रमगा म चोर को स्तेन, डाकू का तस्कर परस्त्री गामी को जार और पापी का अघशसी नाम स सम्बोधित किया गया हैं। ऋग्वद म स्तन तस्कर जार अघशसी आदि समाज के शत्रुआ की ओर सकेत किये गय है।[1] समाज को इस दुष्ट वग स शुद्ध एव रक्षित रखने क लिए उसक नाश हेतु प्राथनाए की गयी है। इसी प्रकार यजुर्वेद म भी राज्य के इन आभ्य तर शत्रुआ के नाश हेतु अनेक प्रसगा म प्राथनाएँ प्राप्त है। यजुर्वेद म भी राज्य के इस शत्रुवग के अ तगत स्तेन तस्कर जार मलिम्लुन (मलिन आचरणधारी) सुखादितान (विषयी) आदि को परिगणित किया गया है।[2] यजुर्वेद म बतलाया गया है कि पापाचारी चोर डाकू लम्पट आदि गहन वनो नदियो के कछारा आदि म छिप रहत थे और अवसर पाकर असावधान आय जनता पर अचानक आक्रमण किया करत थे।[3] अथववेद म भी इसी आशय के अनेक प्रसग हैं। वदिक साहित्य के इन उद्धरणा स स्पष्ट ज्ञात होता है कि वदिक युग म आय राज्या म कुछ न कुछ लाग एस भी थे जा दूसरा के जावन सम्पत्ति स्वतत्रता मर्यादा प्रतिष्ठा आदि पर आघात करत रहत थ। समाज का यह दुष्ट वग राज्य का शत्रु समझा जाता था। इस दुष्ट वग स समाज का रक्षा हाना आवश्यक थी।

आभ्य तर शत्रु के दमन हेतु व्यवस्था

वदिक युग म राज्य के आभ्य तर शत्रुआ के नियत्रण एव दमन हेतु राज्य की ओर स जा यवस्था की जाती थी उसके बोध हतु हमारे समक्ष एक भी पुष्ट प्रमाण नही है। एसा परिस्थिति मे इस व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख करना

१ ३।५५।७ ऋग्वद। १६।२३।२ ऋग्वेद। ५।३२।९ ऋग्वद। ४।३८।९ ऋग्वेद। ३।४।४४ ऋग्वेद।
२ ७७।११ यजुर्वेद। ७८।११ यजुर्वेद। ३ ७९।११ यजुर्वेद।

असम्भव है। परन्तु कतिपय सकेतो के आधार पर जो कि वैदिक साहित्य म उपलब्ध हैं, उसका अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य म आर्यों के जीवन का जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि व ग्रामो म रहते थे और कृषि पशु पालनादि व्यवसाय मुख्य रूप म धारण किये हुए थे। ग्रामो म ग्राममुखिया वैदिक साहित्य म जिन्हें ग्रामणी की सज्ञा दी गयी है, होते थे। ग्राम मे शान्ति एव सुव्यवस्था की स्थापना एव उस चिरस्थायी रखना ग्रामणी का कर्तव्य था। इसलिए चोर डाकू जार आदि दुष्ट जनो स ग्राम सुरक्षित रहें इसके लिए योजना बनाना और उसको कार्यान्वित करना ग्रामणी का परम धर्म था।

ग्रामणी के अतिरिक्त कुछ विशेष राजपुरुष भी होते थे। ये राजपुरुष समाज के इन शत्रुओ के नियन्त्रण एव दमन हेतु सहायता देते थे समय-समय पर उनके कुकृत्यो एव कुचेष्टाओ के अनुसार उन्हें दण्ड दिलाने म यथायोग्य योगदान किया करते थे। उनका एक मुख्य कार्य यह था कि वे सदिग्ध आचरणवान व्यक्ति को पकड कर उसके परीक्षण हेतु उसे सम्बन्धित अधिकारी के पास पहुँचाते थे। छान्दोग्य उपनिषद् म इस प्रकार के परीक्षण की ओर सकेत किया गया है।[1] इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस श्रेणी के राजपुरुष आधुनिक युग की पुलिस व्यवस्था के जनक थे।

इसके अतिरिक्त आर्य राज्यो म चर-व्यवस्था का भी आयोजन किया जाता था। इस व्यवस्था के अनुसार चर समाज के इस दुष्ट वर्ग के दैनिक जीवन तथा उसके आचरण-व्यवहार का गुप्त निरीक्षण किया करते थे। वे अपने इस निरीक्षण के आधार पर उनकी दुष्ट क्रियाओ एव चेष्टाओ की सूचना राज्य के अधिकारी वर्ग तक पहुँचाते रहते थे। इस प्रकार वे राज्य के इस शत्रु वर्ग के नियन्त्रण एव दमन कार्य म निरन्तर सक्रिय सहायता देते रहते थे।

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्यो म आभ्यन्तर शत्रुओ के नियन्त्रण एव दमन हेतु समयानुकूल व्यवस्था की जाती थी। इस व्यवस्था के अनुसार राज्य के निवासियो को इन दुष्ट जनो के कुकर्मों एव कुचेष्टाओ से शुद्ध अप्रभावित एव सुरक्षित रखने का यथासम्भव प्रयास किया जाता था।

बाह्य शत्रु से राज्य की रक्षा के साधन

प्रत्येक राज्य अपने निवासियो को राज्य के शत्रुओ स सुरक्षित रखने के साधनो

[1] २,३।१६।६ छान्दोग्योपनिषद।

को जुटाए रखता है। इन साधना म सबस महत्त्वपूर्ण साधन सबल सना का रखना है। वदिक आर्यों न भी इस महत्त्वपूर्ण रहस्य का भली भाति समझ लिया था। इसी लिए सबल सना रखन के व भी समथ थ। वदिक साहित्य म सना एव उसक सगठन सचालन युद्ध एव युद्धकला आदि क विषय म समुचित प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है। इस सामग्री क आधार पर इन विषयो का तथ्यपूर्ण सक्षिप्त परिचय इस प्रसग म दिया गया है।

सना की आवश्यकता

राज्य की रक्षा क लिए सना परम उपयोगी बतलायी गयी है। सेना राज्य क बाह्य शत्रुओ स उसकी रक्षा करती है। आवश्यकता पडने पर वह राज्य म विद्रोहियो का दमन कर आन्तरिक शाति एव सुव्यवस्था की स्थापना भी करती है। आदि काल स वतमान युग तक सना की आवश्यकता लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओ न स्वीकार की है। राज्य क अस्तित्व क लिए सना अनिवाय है इस तथ्य को प्राचीन भारत म भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया गया है। प्राचीन भारत म राज्य को सप्ताग अथवा सप्तात्मक स्वरूप माना गया है। राज्य के सात अगो म सना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस विचार धारा क अनुसार सना रहित राज्य अगहीन पुरुष क समान आत्मरक्षा म असमथ बतलाया गया है। इसलिए राज्य की रक्षा के निमित्त सना अनिवाय समझी गयी है। आधुनिक युग म भी राज्य की रक्षा का भार प्रधानत सेना पर ही निभर किया गया है। वतमान युग म लगभग प्रत्यक राज्य म राष्ट्रीय आय का बहुत बडा अश सना पर व्यय किया जाता है। इस समय विश्व म एक भी ऐसा राज्य नही है जिसमे सेना का महत्त्वपूर्ण स्थान न दिया गया हो।

सना का सगठन सव प्रथम कब कहा और किस के द्वारा हुआ है, इन प्रश्नो का उत्तर दन क लिए प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद म सेना का उल्लेख है। सना के सगठन के विषय म भी ऋग्वद म कतिपय सकत हैं। इसलिए भारत म प्राचीनतम सेना उसक स्वरूप उसके सगठन आदि के परिचय हतु एक मात्र ऋग्वद का आश्रय लेना अच्छा होगा

वैदिक सेना का स्वरूप

वेदो म यत्र-तत्र सेना का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद म ऐसे अनेक प्रसग है जिनम आय और अनाय राज्यो म आत्मरक्षा हतु सना रखी जाती थी इस विषय

का उल्लेख है। एक प्रसग म, इद्र को शत्रु सेना पर विजय प्राप्त हुई थी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। इसी प्रकार दूसरे प्रसग म इद्र अपनी वीर सना सहित शत्रु पर विजय की कामना हेतु गमन करते हुए दिखलाया गया है।[1] एक अन्य प्रसग म इद्र का बलवती सना समर म युद्ध करती हुई वर्णित है।[2] ऋग्वेद के एक स्थल पर रुद्र की सना स रक्षित रहन के लिए प्राथना का गयी है। इसी वेद के एक प्रसग म सेना अत्यन्त उल्लासपूर्ण होकर युद्ध हेतु गमन करती हुई वर्णित है।

इन उद्धरणा स स्पष्ट है कि वदिक आय राज्य म आत्मरक्षा के निमित्त अपने शत्रुआ के नाश हेतु सना का होना आवश्यक समझा जाता था। परन्तु यह भी स्पष्ट हो जाना उचित है कि सम्पूर्ण वदिक साहित्य म इस प्रश्न के समाधान हेतु प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है कि ऋग्वेदोक्त सना स्थायी सना के रूप म थी अथवा युद्ध के समय म ही आवश्यकतानुसार उसका सगठन कर लिया जाता था। प्राय सभी विद्वाना का मत है कि उस युग मे स्थायी सना रखने का चलन न था। युद्ध के उपस्थित होने पर सना का सगठन कर लिया जाता था और युद्ध के समाप्त होने पर विघटन कर दिया जाता था।

परन्तु वदिक सहिताआ म कतिपय ऐसे सकत भी हैं जो सेना के कुछ अश के स्थायी होन के पक्ष मे है। अथववेद म राजकर्ताआ का उल्लेख है। इस प्रसग म राजकर्ता दो श्रेणिया म विभक्त किये गये है जिन्हे राजानो राजकृत और अराजानो राजकृत के नाम स सम्बोधित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण म भी इस ओर सकत किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के इस प्रसग म सूत और ग्रामणी को द्वितीय श्रेणी के राजकर्ताआ म स्थान दिया गया है। सेनानी भी एक राजकर्ता होता था। सनानी का पद स्थायी था। सनानी का स्थायी पद होन स यह स्पष्ट है कि उसके अधीन कुछ न-कुछ सना अवश्य स्थायी रूप म रहती होगी। अन्यथा उसके सनापति अथवा सनानी रहने का उपयोग ही क्या रहगा। इसके साथ-साथ यजुर्वेद मे भी इस ओर सकेत है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक प्रसग म आशु सना के सम्मान करन के निमित्त व्यवस्था दी गयी है। आशु सेना से यजुर्वेदीय ऋषि का वास्तविक क्या तात्पय है स्पष्ट नही है। परन्तु आशु शब्द तत्काल, शीघ्रता आदि भावा का व्यक्त करन के लिए

१ १।१०३।१० ऋग्वेद। २ ८।१०३।१० ऋग्वेद। ३ ७।१०३।१० ऋग्वेद।

प्रयुक्त हुआ है ऐसा प्रसग से नान होता है। इससे स्पष्ट है कि यजुवद मे लक्षित आशु सना उस सेना को बतलाया गया है जिसका युद्धकाल मे आवश्यकतानुसार नवान युवको की भर्ती कर सगठन कर लिया जाता था। इसी प्रसग मे एक प्रकार की सेना को श्रुत सेना की मना दी गयी है। श्रुत सेना सम्भवत राज्य की स्थायी सेना होती होगी। यह सेना राज्य की मूल सना कही जा सकती है।

इस दष्टि स सेना दो प्रकार की होती थी। कुछ सनिक राज्य की वेतनभोगी स्थायी सेना म रहते थे और इन सनिको का सगठित समूह श्रुत सेना कहलाता था, जिसने वदिक युग के उपरात कुछ काल मे मूल सेना का रूप धारण किया। इस प्रकार वदिक साहित्य मे वदिक आय राज्यो की स्थायी सेना होने के पक्ष मे भी कतिपय सकेत प्राप्त हैं।

ऋग्वद म सेना को सेना अनीक पतना आदि नामा से सम्बोधित किया गया है। परतु सेना के इन विविध भेदो के स्वरूप के विषय मे स्पष्ट कुछ भी वणन न होने के कारण इनके विशेष लक्षणो का परिचय दिया जाना सम्भव नही है। आकार की दष्टि म भी बडी और छोटी सेनाएँ होती थी। ऋग्वेद म विशाल सेना को महासना के नाम स सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद म भी ऋग्वेद के समान ही सेना के अनेक नाम दिये गये हैं। अथववेद म सेना का एक नाम वाहिनी दिया हुआ है।

सेना-सगठन

वदिक साहित्य म सना सगठन के विषय मे विशेष वणन किसी प्रसग म भी दिया हुआ नही है। परतु इस विषय मे कतिपय सकेत अवश्य यत्र-तत्र प्राप्त हैं। इन सकेतो से नात होता है कि वदिक सेना का विकास चतुरगिणी सेना के रूप म नही हो सका था और न उसने षडग अथवा अष्टाग सेना का ही रूप धारण किया था। वदिक आय सना क छ प्रकारो—मौल भत श्रेणी, मित्र अमित्र और अटविक बल—म भी अनभिज थे। परतु वदिक साहित्य में कुछ ऐस सकेत उपलब्ध हैं जिनसे स्पष्ट है कि वद कालीन सेना द्वि अगिनी अवश्य थी। सेना के ये दो अग पदारोही और रथारोही थे। उस युग म गजारोही सना का निर्माण नही हुआ था इसमे दो मत नहा हैं। अश्वारोही सना का उदय हो चुका था अथवा नही इस विषय म कोई एक निश्चित मत नही है। कुछ विद्वानो का मत है कि वदिक युग मे अश्वारोही सना भी था। परन्तु दूसरी श्रणी के विद्वान इस मत स सहमत नहा हैं। उनके मतानुसार भारत म

।रोही सना ।५५४व • के उपरान्त किसी समय हुआ है। परन्तु अपेक्षाकृत

अधिक विद्वानों का मत इसी पक्ष में है। ये विद्वान वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी, इस मत का विरोध करते हैं।

गजारोही सेना का उदय

मुअन जो-दड़ो की खुदाई में एक ऐसी मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें हाथी का चित्र है। इससे ज्ञात होता है कि उस युग में हाथी महत्त्वपूर्ण पशु समझा जाता था। वह बल का प्रतीक माना गया होगा। ऋग्वेद में हाथी को आरण्य पशु की श्रेणी में स्थान दिया गया है।[1] परन्तु ऋग्वेद के ही एक अन्य प्रसंग में इस विषय का संकेत प्राप्त है कि उस युग में हाथी का प्रयोग वाहन रूप में होने लगा था। यजुर्वेद में स्पष्ट बतलाया गया है कि हाथी हिमालय पर्वत पर पाये जाते हैं।[3] यजुर्वेद में इस ओर भी संकेत किया गया है कि उस युग में हाथी पालतू बनाये जाते थे। अथर्ववेद में हाथी महान बली पशु बतलाया गया है।[5] अथर्ववेद में उसके तेज की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इस प्रसंग में इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जिस तेज को धारण कर हाथी हाथी कहलाता है वह तेज मुझे प्राप्त हो।[6] अथर्ववेद के एक मंत्र में हाथी युक्त की सवारी बतलाया गया है।[7] इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि हाथी का उपयोग असुर करते थे।[8]

परन्तु इतना होने पर भी सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के किसी स्थल पर एक भी ऐसा संकेत प्राप्त नहीं है जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की जा सके कि वैदिक युग में युद्ध के लिए हाथी का उपयोग वाहन रूप में कभी किया गया हो। इससे सिद्ध होता है कि युद्ध के लिए वाहन रूप में हाथी का उपयोग वैदिक युग के पश्चात किसी समय हुआ है। यूनानी सम्राट सिकन्दर ने भारत पर विजय-कामना से आक्रमण किया था। इस आक्रमण के अवसर पर पंजाब में राजा पोरस से सिकन्दर का भयंकर युद्ध हुआ था। इस युद्ध में सिकन्दर को विजय प्राप्त हुई और इसके उपलक्ष में उसने एक विशेष मुद्रा का निर्माण कराया था। यह मुद्रा आज उपलब्ध है। इसमें राजा पोरस को हाथी पर आसीन दिखलाया गया है। इस मुद्रा

१ ७।६४।१ ऋग्वेद। २ १।४।४ ऋग्वेद। ३ ३०।२४ यजुर्वेद।
४ ११।३० यजुर्वेद। ५ १।२२।३ अथर्ववेद। ६ ३।२२।३ अथर्ववेद।
७ ६।२२।३ अथर्ववेद। ८ ४।२३।३ अथर्ववेद

के आधार पर स्पष्ट है कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय भारतीय नरेश युद्ध में हाथी का उपयोग वाहन रूप में किया करते थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का आश्रय लेने से ज्ञात होता है कि भारत में गजारोही सेना का सर्वप्रथम उदय वैदिक युग के पश्चात् और सिकन्दर द्वारा भारत आक्रमण के पूर्व किसी समय हुआ है।

अश्ववारोही सेना पर भिन्न मत

अश्वारोही सेना का सर्वप्रथम उदय भारत में कब हुआ इस समस्या के समाधान हेतु भी प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। ऋक् और यजु दोनों वेदों में अश्व की महिमा का गुण गान किया गया है। इन प्रसंगों में अश्व युद्ध के लिए परम उपयोगी पशु बतलाया गया है। अश्व की सहायता के बिना वैदिक आर्य राजा शत्रु पर विजयी होने में विफल रहते थे। अपनी द्रुत गति एवं विशेष पुरुषार्थ के कारण वैदिक युग में अश्व परम उपयोगी पशु माना गया था। इस आधार पर अश्व की समता बाज पक्षी और हरिण से की गयी है। इस विषय में ऋग्वेद के एक सूक्त में इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है—हे द्रुत गतिशील अश्व! तू श्येन पक्षी के पर और हरिण पशु की टांगों को धारण कर इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ है। यम ने तुझ (अश्व) लोक के निमित्त दिया था त्रिता ने उसे सर्वप्रथम रथ में जोता था। इन्द्र अश्व पर सर्वप्रथम अधिष्ठित हुआ और गन्धर्वों ने उसकी रासों को ग्रहण किया। वसुओं ने सूर्य से अश्व का निर्माण किया। अश्व को यम आदित्य सोम अग्नि देवों का पद दिया गया है।[3] अश्व मन की गति के समान गतिमान बतलाया गया है। ऋग्वेद में अश्व युद्धरूपी नदी को पार करने वाली नाव बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर अश्व को युद्ध रूपी रोग की औषधि बतलाते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—औषधियो! तुम अश्व के समान रोगों के लिए जयशील हो।[5] इसी वेद के एक दूसरे प्रसंग में अश्व अरातियों पर विजय दिलाने वाला पशु बतलाया गया है। यजुर्वेद में भी अश्व की महिमा की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। अश्व की महिमा गाने के लिए यजुर्वेद में ऋग्वेद-वर्णित अश्व के प्रशंसा सम्बन्धी भावों की ही पुनरावृत्ति की गयी है।[6]

इतना होने पर भी यह विषय अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है कि वैदिक

१ १।१६३।१ ऋग्वेद। २ २।१६३।१ ऋग्वेद। ३ ३।१६३।१ ऋग्वेद।
४ ३।९७।१० ऋग्वेद। ५ १५।९६।९ ऋग्वेद। ६ ७७।१२ यजुर्वेद।

आर्यों ने अश्व का उपयोग अश्वारोही सेना के निर्माण हेतु किया था अथवा नहीं। ऋग्वेद में कुछ ऐसे संकेत अवश्य पाये जाते हैं जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अश्व की पीठ पर अधिष्ठित होकर योद्धा समरभूमि में प्रवेश करता था। ऋग्वेद के एक प्रसंग में अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है—हे अग्नि ! हम अश्व से अश्व, मनुष्य से मनुष्य और वीरों से वीरों पर विजय प्राप्त करें।[1] एक अन्य प्रसंग में बतलाया गया है कि अश्व पंक्तिबद्ध होकर गमन करते हैं।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद के एक स्थल पर अश्व की पीठ पर आसीन होने की ओर संकेत किया गया है।[3] ऋग्वेद में अश्वी शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] कतिपय विद्वानों ने अश्वी का अर्थ अश्वारोही किया है। ऋग्वेद में एक स्थल पर अश्वों के खुरों से उड़ायी गयी धूलि से आकाश के आच्छादित होने का वर्णन है।[5] यजुर्वेद के एक प्रसंग में सैनिकों को उत्साहित करने के लिए प्रार्थना की गयी है। इस प्रार्थना में आयुधों के प्रखर करने, सैनिकों में उत्साह का उद्रेक करने, अश्वों के तीव्र गति से गमन करने और रथों के घोष करने के लिए कामना की गयी है।[6] यजुर्वेद के इस संकेत से वैदिक सेना का त्रि अंगिनी होना प्रमाणित होता है। इस त्रि अंगिनी सेना के तीन अंग—पैदल सेना, अश्वारोही सेना और रथारोही सेना—की ओर अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ संकेत किया गया है। अथर्ववेद के एक प्रसंग में बतलाया गया है कि अश्व अपने तन पर तन (मनुष्य शरीर) का वहन करता है।[7] अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग में इन्द्र अश्व की पीठ पर सवार होकर गमन करता हुआ वर्णित है।[8]

परन्तु इस सांकेतिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी, जो समर भूमि में प्रवेश कर युद्ध किया करती थी। इसलिए इन संकेतों मात्र के आधार पर इस विषय में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में यह विषय अभी शोध हेतु समस्या ही रहेगा जब तक कि वैदिक अश्वारोही सेना होने अथवा न होने के पक्ष में कोई नवीन पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो जाय। इसलिए वैदिक सेना को द्वि अंगिनी ही स्वीकार कर लेना उचित है। वैदिक द्वि अंगिनी सेना के दो अंग पदाति सेना और रथारोही सेना थे।

१ ९।७३।१ ऋग्वेद। २ १०।१६३।१ ऋग्वेद। ३ १५।१२।२० अथर्ववेद।
४ १६।२७।२ ऋग्वेद। ५ ४।२८।६ ऋग्वेद। ५।८१।१ ऋग्वेद।
६ ४२।१७ यजुर्वेद। ७ ३।९२।६ अथर्ववेद। ८ १५।१२८।२० अथर्ववेद

पदाति सेना

वदिक साहित्य म पत्ति सना को पत्ति और उसक नायक को पत्तिपति की सना दी गयी है। वदिक आर्यों में सेना के इस अधिकारी के प्रति विशेष सम्मान एव सत्कार प्रदर्शित किया जाता था।[1] एक ही श्रेणी के कुछ योद्धाओं की टोली को गण की सना दी गयी है। गण का भी एक मुखिया होता था जिस गणपति की उपाधि स विभूषित किया जाता था।[2] पत्ति, पत्तिपति गण गणपति आदि क वास्तविक स्वरूप वदिक युग म क्या रह होंगे स्पष्ट नहा है। महाभारत के आदिपव म सना सगठन का वणन करते हुए पत्ति और गण के लक्षण स्पष्ट बतलाये गये हैं। इस प्रसग म एक रथ एक हाथी, तीन अश्वारोही और पाँच पदल सनिकों की सयुक्त टुकडी को पत्ति की सना दी गयी है।[3] तीन पत्तियों का एक सेनामुख तीन सनामुखों का एक गुल्म और तीन गुल्मों का एक गण बतलाया गया है।[4] परन्तु वदिक सना का सगठन चतुरंगिणी सना के रूप म नहा हो सका था। अत वदिक युग म पत्ति शब्द मिश्रित सना की टुकडी क लिए प्रयुक्त हुआ हो यह सम्भव नहीं। इसलिए वदिक पत्ति और महाभारत की पत्ति म अन्तर है। महाभारत म पत्ति मिश्रित सना की सबस छोटी टुकडी है परन्तु वदिक युग म पत्ति का प्रयोग पदल सेना अथवा उसकी टुकडी मात्र क लिए किया जाता था। इसी प्रकार महाभारत के गण और वदिक गण म भी अन्तर है। वदिक युग म गण मिश्रित सना का एक टुकडा के लिए प्रयुक्त होता हो यह स्पष्ट नहीं है। वह समान श्रेणी के योद्धाओं की एक विशेष टुकडी के लिए प्रयुक्त हुआ जान पडता है। महाभारत के इसी प्रसग म वाहिनी पतना चमू अनीकिनी आदि सना क विशेष सग ठनों के भी लक्षण दिये गये ह। वदिक सहिताओं म भी विविध प्रकार की सना को *उसके विशेष सगठन एव स्वरूप के आधार पर वाहिनी पतना चमू अनीक आदि नामों* से सम्बोधित किया गया है। परन्तु वदिक सहिताओं म उल्लिखित सना क इन भद प्रभदों तथा महाभारत की सना क भेद प्रभदों म सामजस्य नहीं है। इसके अतिरिक्त वदिक युग म इन शब्दों का प्रयोग किस प्रकार की सना के लिए हुआ ह स्पष्ट नहीं है।

रथसेना

वदिक युग म रथसना महत्त्वपूर्ण एव परमोपयोगी तथा सवश्रेष्ठ समझी जाती

१ १९।१६ यजुर्वेद। २ १५।११ यजुर्वेद। ३ १९।१ आदि पव महाभारत।
४ १९ से २२ तक ।१ आदि पव महाभारत।

थी। वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें रथ सेना को प्रोत्साहित किया गया है। इन प्रसंगों में यजुर्वेद के एक मन्त्र में रथ-सेना को प्रोत्साहित करने के लिए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—'हे बृहस्पति! शत्रु-नाश हेतु तू रथ द्वारा निर्बाध सर्वत्र गमन कर।'[१] इसी प्रकार ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी यही भाव व्यक्त किये गये हैं—जिनके हाथ में (रथ में जुते हुए) बलवान् अश्व हैं और जो विजय घोष कर रहे हैं, ऐसे रथारोही वीर रथ द्वारा (रणस्थल में) इधर उधर भ्रमण कर रहे हैं। इन रथों में जुते हुए अश्व अपने खुरों से शत्रु-सेना को कुचल रहे हैं।[२]

रथ में सामान्यतया दो अश्व जोते जाते थे। इन्द्र को रथ दो अश्व वहन करते थे।[३] परन्तु कितने रथों में अश्व के स्थान में रासभ भी जोते जाते थे। ऋग्वेद के अनुसार अश्विनीकुमारों के रथ में रासभ जोते जाते थे।[४] सामान्यतया रथ में दो पहिये होने थे जिन्हें वेदों में चक्र नाम से सम्बोधित किया गया है।[५] परन्तु कुछ रथों में दो से अधिक चक्र भी होते थे। अश्विनीकुमारों के रथ में तीन चक्र थे।[६] साधारणतया रथ में बैठकर एक वीर योद्धा युद्ध करता था जिसे रथी कहते थे। इस प्रकार सामान्य रथों में बैठने के दो विशेष आसनों का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के अग्र भाग में चालक का आसन होता था। इस प्रकार एक आसन योद्धा के लिए और दूसरा रथ चालक के लिए होता था। परन्तु कुछ विशेष रथ भी होते थे जिनमें दो से अधिक आसनों का आयोजन रहता था। अश्विनीकुमारों के रथ में तीन पुरुषों के आसनों का आयोजन था।[६] दो आसन अश्विनी कुमारों (दो) के बैठने के लिए और तीसरा चालक के लिए था। रथ द्रुत गति से गमन करते थे।[७] रथ के चक्र की नाभि को नेमि और उसके अरों को अरा कहते थे।[८] अरा चक्र की नेमि को चक्र की परिधि से संयुक्त करते थे। इस प्रकार चक्र के मुख्य तीन भाग होते थे जो नेमि, अरा और परिधि कहलाते थे। वैदिक युग में रथ चक्र काष्ठ के एक ही कुन्दे से बनाया जाता था उसमें नेमि, अरा और परिधि पृथक नहीं होती थी यह मत तथ्यहीन है। चक्र में नेमि और परिधि पृथक अंग होते थे, जिनके संयोग से उसका निर्माण होता था। रथ चक्र जिस कीली पर घूमता था उसे अक्ष कहते थे। अक्ष चक्र की

१ ३६।१७ यजुर्वेद। २ ७।७५।६ ऋग्वेद। ३ १।८२।१ ऋग्वेद।
४ ७।८५।८ ऋग्वेद। ५ १।१८३।१ ऋग्वेद। ६ १।१८३।१ ऋग्वेद।
७ १।१८३।१ ऋग्वेद। ८ ९।१४१।१ ऋग्वेद।

नाभि म डाला जाता था। इसी मध्य का आश्रय लकर मत्र घूमता था और इस प्रकार रथ गमन करता था। रथ का निर्माण किया जाय ऋग्वेद म इस ओर सकत किया गया है। ऋग्वद क एक मत्र म प्राथना की गयी है कि रथ निर्माण करन म कुशल कारीगर रथ का निर्माण करें।[1] रथ निर्माण कर्ता को वद म रथकार नाम स सम्बोधित किया गया है।[2] रथ के जुआ को (जिसम अश्व योजित किये जात थे) धुरी वहत थे।[3] ऋग्वद म रथ की व्याख्या करते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये है—युद्ध के जिस यान म खाद्य सामग्री आयुध और कवच रखे जाते हैं उसका नाम रथवाहन है।[4] सौन्दय की दृष्टि से रथ विविध प्रकार क होत थे। कुछ रथ सोन क समान द्युतिमान होते थ जिन्ह हिरण्यरथ के नाम स सम्बोधित किया गया है।[5] कुछ रथ विशष सुन्दर होते थे जिन्हें सुरथ कहा गया है।[6] कुछ रथ विशष सुखदायी होते थ जिन्हें ऋग्वद मे सुख रथम कहकर सम्बोधित किया गया है।

वदो म रथचालक को सारथि की उपाधि दी गयी है। रथ म जात गय अश्वो को सारथि चाबुक स हांकता था। इस चाबुक को वदिक भाषा म कशा कहा गया है।[8] सारथि अश्वो की रासा को (रश्मीन) हाथ म पकडता था और इनके द्वारा अश्वो का नियमन करता था।[9] ऋग्वद के एक मत्र म सारथि के विषय म इस प्रकार वणन किया गया है—रथ म बठा हुआ कुशल सारथि अपनी इच्छानुसार अश्वो को आगे ले जाता है और अश्वो की रासो क द्वारा (रश्मय) इच्छानुसार ही उनका निग्रह करता है। अत सब ओर से अश्वो को शीघ्र नियत्रण करने वाली रासो की स्तुति करना चाहिए।[10]

रथ म आसीन वीर योद्धा रणस्थल म युद्ध करता था। इस योद्धा को रथी की उपाधि दी गयी है।[11] युद्ध कौशल की दक्षता के आधार पर ये वीर योद्धा गण तीन श्रणियो म विभक्त किय जाते थ योद्धाओ की तीन श्रणिया रथी रथीतर और रथीतम क अतगत परिगणित थी। इनम जो योद्धा सामान्य श्रणी के होते थ रथी

१ ३।२४।६ ऋग्वेद। १।११११।१ ऋग्वेद। २ ६।३० यजुर्वेद। २७।१६ यजुर्वेद। ३ ६।५६।५ ऋग्वेद। ४ ८।७५।६ ऋग्वेद। ५ ४।३३।८ ऋग्वेद। ६ २।२२।१ ऋग्वेद। ७ ३।२०।१ ऋग्वेद। ८ १७।१६२।१ ऋग्वेद। ९ ३।१४४।१ ऋग्वेद। १० ६।७५।६ ऋग्वेद। ११ ३।७७।१ ऋग्वेद।

पहनाते थे। मध्यम श्रेणी के इन योद्धाओं को रथीतर और उत्तम श्रेणी के योद्धाओं को रथीतम श्रेणी में स्थान दिया जाता था।[1] ऋग्वेद में कपर्दी (रुद्र) को रथीतम की उपाधि दी गयी है।[2] यजुर्वेद में भी रथारोही योद्धाओं को सामान्य रीति से रथी की उपाधि दी गयी है।[3] सर्वश्रेष्ठ रथी को रथीतम की उपाधि से विभूषित किया गया है। इसी आधार पर इन्द्र को रथीतम की उपाधि प्रदान की गयी थी।[4] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि रथारोही योद्धाओं की तीन श्रेणियाँ थीं जो उनके युद्ध कौशल की क्षमता के आधार पर इन तीन श्रेणियों में विभक्त थे। परन्तु वैदिक साहित्य में यह कहीं भी उल्लिखित नहीं है कि इन श्रेणियों के निर्धारण हेतु किस मापदण्ड का आश्रय लिया जाता था। रथी, रथीतर और रथीतम के विशेष लक्षणों का उल्लेख न होने के कारण उनके वास्तविक स्वरूप का बोध होना नितान्त असम्भव है।

नारी-सेना

ऋग्वेद में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें नारी-सेना की ओर संकेत किया गया है। नमुचि नाम के अनार्य राजा ने इन्द्र के विरुद्ध युद्ध करने के लिए नारियों को भी आयुध धारण कराये थे।[5] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में अनार्य राज्यों में नारियाँ भी सेना में भर्ती की जाती थीं। इन्द्र ने नारी सेना को अबला सेना की संज्ञा दी है।[6] इन्द्र ने यह नियम बनाया था कि जो पुरुष नारियों के विरुद्ध पुरुषों को युद्ध हेतु भेजता है वह (इन्द्र) उस पुरुष की धन सम्पत्ति बिना युद्ध किये ही हरण कर अपने भक्तों को दे जाय।[7] इन्द्र की इस घोषणा के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य नारी सेना रखने के पक्ष में न थे। परन्तु अनार्य राज्यों में अवसर आने पर आवश्यकतानुसार नारियों को भी सेना में भर्ती किया जाता था और उन्हें युद्ध में भी भाग लेना पड़ता था।

सेना के कतिपय अधिकारी

युद्ध करने वाले सैनिक को वेदों में योधी की संज्ञा दी गयी है।[8] ऋग्वेद में

१ ६।८७।१ ऋग्वेद। ३।२५।१ ऋग्वेद। २।१८।२।१ ऋग्वेद।
२ २।५५।६ ऋग्वेद। ३ २६।१६ यजुर्वेद। ४ ६।१।१५ यजुर्वेद।
५ ५।३०।५ ऋग्वेद। ६ ५।३०।५ ऋग्वेद। ७ १०।२७।१० ऋग्वेद।
८ ५।१७।३।१ ऋग्वेद।

सैनिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है जिन्हें शूर, भीरु और धावत् की उपाधि दी गयी है।[1] रणस्थल से मुख न मोड़ने वाले वीर योद्धा को शूर की उपाधि से विभूषित किया जाता था। कायर सैनिक को भीरु और रणस्थल से भाग जाने वाले सैनिक को धावत् कहकर सम्बोधित किया जाता था। इसी प्रकार रणस्थल में प्रतीच, पराच और अश्च नाम से भी सैनिक सम्बोधित किये गये हैं।[2] युद्ध में संलग्न योद्धाओं को प्रतीच, रणस्थल में भाग जाने वालों को पराच और शत्रु का पीछा करने वाले को अश्च की संज्ञा दी गयी है।

समान श्रेणी के कुछ सैनिकों को गण और उसके मुखिया को गणपति की उपाधि दी गयी है।[3] पैदल सेना को पत्ति और उसके नायक को पत्तिपति के नाम से सम्बोधित किया गया है। सेनापति को सेनानी की संज्ञा दी गयी है।[4] देवों ने इन्द्र को अपनी सेना का नेता बनाया था।[5] इससे स्पष्ट है कि वेदों में सेनानी और सेनानेता दोनों शब्द एक ही पद के लिए प्रयुक्त हुए हैं। युद्ध-सामग्री का संग्रह करने वाला व्यक्ति संग्रहीता नाम से सम्बोधित किया गया है। इसका एक मात्र कर्त्तव्य बाण हेति, प्रहति आदि युद्ध सामग्री जो प्रयुक्त होकर रणस्थल में बिखर जाती थी उसको एकत्र कर संग्रह करना था।

इन सैनिक अधिकारियों के अतिरिक्त सेना के कतिपय अन्य अधिकारियों की ओर भी वेदों में संकेत किये गये हैं। ये अधिकारी आशापाल शतानीक सहस्रिन, सूत गणक आदि हैं।[6] सेना के गमन काल में सेना के आगे आगे एक विशेष पदाधिकारी चलता था। इसी प्रकार सेना के पृष्ठ में एक अन्य विशेष पदाधिकारी गमन करता था। सेना के दक्षिण और वाम पक्ष में भी पृथक्-पृथक् सेना के पदाधिकारी रहते थे। ऋग्वेद में देवसेना के युद्ध हेतु प्रस्थान की ओर संकेत किया गया है जो इस प्रकार है—इन्द्र देवसेना के सेनापति हैं। बृहस्पति सेना की दाहिनी ओर रहें।

१ ५।१७३।१ ऋग्वेद। २ ६।३०।३ ऋग्वेद। ३ २५।१७ यजुर्वेद।
४ १९।१६ यजुर्वेद। ५ २६।१६ यजुर्वेद। ६ ४०।१७ यजुर्वेद।
७ २६।१६ यजुर्वेद। ८ १९।२२ यजुर्वेद। १९।२२ यजुर्वेद।
५२।३४ यजुर्वेद। २१।१५ यजुर्वेद। १८।१६ यजुर्वेद।
२०।३० यजुर्वेद।

यनोपयागी सोम उस सना के अग्रभाग म रहें। मरद्गण शत्रु भयकर्त्री और विजयिनी देवसना क आगे आगे गमन करें।[1]

यजुर्वेद के एक मत्र म इस ओर सकेत किया गया है कि सेना-नायक के साथ उसका पुरोहित भी रहता था।[2] परन्तु इतने मात्र से इस पुरोहित क वास्तविक स्वरूप का बोध होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार उपयुक्त सामग्री के आधार पर वदिक सना क स्वरूप एव सगठन के विषय म सक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। इस परिचय स ज्ञात होता है कि वदिक आर्यो न आत्मरक्षा हेतु राज्य म सना का होना आवश्यक समझा था। उन्होंन अपन राज्य म सना निमाण किया था और समयानुसार उस सगठित एव सुसज्जित भी किया था। उन्होंने अपनी इसी सना द्वारा शत्रु स अपनी रक्षा की थी और उसक द्वारा अपने शत्रुओं स अनेक युद्ध किय थे जिनमें उन्हें विजय प्राप्त हुई थी।

आयुध

वैदिक आयुधों के प्रकार

वैदिक आर्य युद्ध म विविध प्रकार के आयुधों का उपयोग करते थे। इन आयुधों का उल्लख यत्र-तत्र प्राप्त ह। वदों के अध्ययन करन से ज्ञात होता है कि वदिक आर्य अस्त्र और शस्त्र दोनो प्रकार के आयुधों का प्रयाग करत थे। इनक अतिरिक्त युद्ध काल म अगरक्षक आयुधों का भी उपयोग होता था। अगरक्षक आयुध युद्ध क अवसर पर रणभूमि म योद्धा क विविध अगो विशेष रूप म मार्मिक अगो की रक्षा करत थ। इन सभी प्रकार के आयुधों का सक्षिप्त परिचय जसा वदिक सहिताओं म प्राप्त है नीचे दिया जाता है।

धनुष

वदिक युग का परम उपयोगी एव विशेष प्रचलित आयुध धनुष था। वदिक आर्य धनुष-बाण का विशेष उपयोग करते थे। उस युग के आर्यों का यह परम प्रिय एव परम उपयोगी आयुध माना गया है। एक महत्त्वपूर्ण मत्र मे, जिसे कुछ लोग वदिक आर्यों का राष्ट्रगान भी कहते हैं अनेक कामनाओं की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इन कामनाओं म एक कामना यह भी व्यक्त की गया है कि उनके वीर योद्धा बाण

१ १७।४० यजुर्वेद। २ ३४।१६ यजुर्वेद।

चलाने में कुशल हों।[1] इस प्रसंग में स्पष्ट है कि वैदिक आर्य आत्मरक्षा एवं शत्रु की पराजय के निमित्त धनुष-बाण के आश्रय पर विशेष आस्था रखते थे।

वेदों में धनुष का गुण गान इस प्रकार व्यक्त किया गया है—धनुष के द्वारा भूमि पर अधिकार और संग्राम में विजय प्राप्त करनी चाहिए। धनुष के द्वारा ही भयंकर संग्रामों में उल्लासपूर्वक विजय प्राप्त करनी चाहिए। धनुष शत्रु की कामनाओं को विफल करता है। *धनुष के द्वारा समस्त दिशाओं प्रदिशाओं पर विजय प्राप्त करना* चाहिए। इस प्रकार वेदों में धनुष परम उपयोगी आयुध बतलाया गया है। रुद्र के धनुष को पिनाक नाम से सम्बोधित किया गया है। इस धनुष को धारण कर रुद्र ने अनेक युद्ध किये थे।

धनुष के आकार प्रकार का बोध कराने के लिए वैदिक साहित्य में प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव होने के कारण इस विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। अनुमान किया जाता है कि उस युग के धनुष का आकार विशाल होता होगा। मौर्य युग के राजशास्त्रप्रणेता कौटिल्य ने धनुष की लम्बाई पांच हाथ मानी है।[4] यह भी अनुमान किया जाता है कि वैदिक युग के धनुष का निर्माण बाँस अथवा अन्य किसी प्रकार के उपयुक्त काष्ठ को झुकाकर उसके दोनों अग्रों को दृढ़ डोरी से बांधकर किया जाता था। धनुष की इसी डोरी का आश्रय लेकर बाण चलाया जाता था। धनुष की डोरी को बलपूर्वक कान तक खींचकर बाण फेंका जाता था। इसी लिए वेदों में कान को धनुष की डोरी का प्रिय सखा कहकर सम्बोधित किया गया है।[5] इस विषय में यजुर्वेद में युद्ध के एक प्रसंग में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है—*हे तेजस्वी रुद्र! तेरे हाथ में जो बाण हैं उन्हें धनुष के दोनों अग्रों से बंधी डोरी* पर रखकर बलपूर्वक फेंक और तेरे शत्रुओं ने जो बाण तेरे ऊपर छोड़े हैं उन्हें नष्ट कर दे।[6]

वेदों में धनुष की डोरी को ज्या और धनुष के दोनों सिरों को आर्त्नि नाम से सम्बोधित किया गया है। वेदों में ज्या की महिमा के वर्णन अति रोचक और सजीव हैं। इन वर्णनों के कुछ अंश इस प्रकार हैं—धनुष की डोरी (ज्या) संग्राम सागर में

१ २२।२२ यजुर्वेद। २ २।७५।६ ऋग्वेद। ३ ५१।१६ यजुर्वेद।
४ ६।५।१० अर्थशास्त्र। ६।१।३ यजुर्वेद। ५ ३।७५।६ ऋग्वेद।
६ १।१६ यजुर्वेद। ७ १४।५३।३ ऋग्वेद। ३।१६६।१० ऋग्वेद।

तरती हुई अथवा उसे पार करती हुई अपने प्रिय सखा कान का आलिंगन करती हुई उसमें कुछ कहती हुई स्त्री के समान शब्द करता हुई जैसे कि एक मन वाली दो स्त्रियाँ माता के समान पुत्र को अपने समीप विशेष आश्रय से धारण करती है तथा वे परस्पर सहयोगिनी होकर शत्रुओं को कम्पायमान करती हुई उनका वधन करती हुई दूर भागती हैं।[१] धनुष की ज्या का निर्माण ज्या-कला विशेषज्ञ द्वारा होता था। ज्या विशेषज्ञ ज्या निर्माण-व्यवसाय धारण करते थे। यजुर्वेद में ज्या निर्माण करने वाले विशेषज्ञों को 'ज्याकार' नाम से सम्बोधित किया गया है।[२] ज्या का निर्माण किस पदार्थ से किया जाता था इस विषय में भी वेदों में संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर ज्ञात होता है कि ज्या का निर्माण गाय की स्नायु से निर्मित तांत से किया जाता था।[३]

धनुष का आविष्कार सर्व प्रथम कब कहाँ और किसने किया? इन प्रश्नों के समाधान हेतु उत्तर मिलना असम्भव है। इन प्रश्नों के उत्तर हेतु प्रामाणिक सामग्री की खोज अभी तक हो नहीं पायी है। सिन्धु नदी की घाटी में जिस ऐतिहासिक सामग्री की प्राप्ति हुई है उसमें ताँबे और पीतल के शल्यमुख (Arrow heads) भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईसा से तीन अथवा चार सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु नदी की घाटी के निवासी धनुष-बाण का उपयोग करते थे। परन्तु उस युग में धनुष का आकार प्रकार एवं स्वरूप क्या था इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वैदिक युग के उपरान्त बहुत समय तक युद्ध के लिए धनुष परम उपयोगी आयुध समझा जाता रहा। मौर्य युग के उदय काल से मुगल सम्राट बाबर द्वारा भारत विजय काल तक धनुष को परम उपयोगी आयुध समझा गया था। भारत में बन्दूकों के आ जाने से धनुष की उपयोगिता कम हो गयी। इस प्रकार शनै शनै धनुष युद्ध के आयुधों से पृथक कर दिया गया।

बाण

वेदों में बाण को इषु शल्य शर सायक आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।[४] विशेष नुकीले बाण को वैदिक साहित्य में शल्य की संज्ञा दी गयी है। शल्य

१ ४।७५।६ ऋग्वेद। २ ४८।२९ यजुर्वेद। ३ ११।७५।६ ऋग्वेद। ४८।२९ देखिए उव्वट महीधर यजुर्वेदभाष्य। ४ ११।७५।६ ऋग्वेद। ४।८७।१० ऋग्वेद। १०।३३।२ ऋग्वेद। ११७७।७५।६ ऋग्वेद। १ से ५।३।१ अथर्ववेद।

के अग्रभाग को शल्यमुख और शल्यमुख के अग्रभाग में जो नुकीला भाग होता था उसे शल्यदन्त कहा गया है। वाण का यह नुकीला अग्रभाग शत्रु के शरीर का वेधन करता था। शल्य के इन अग्रभागों से सुरक्षित रहने के लिए वेदों में प्रार्थनाएँ की गयी हैं। इन प्रार्थनाओं का कुछ अंश इस प्रकार है—हे अनेक तूणीरधारी इन्द्र! धनुष का विस्तार कर वाणों के अग्रभागों को (शल्यानां मुख्य) निकाल कर हमारे लिए प्रसन्न मन वाले मंगलकारी होओ।[1] शल्य के अग्रभाग का नुकीला दन्त अस्थि लोह अथवा ऐसे किसी कठोर पदार्थ से बनाया जाता होगा। वाण में पक्षी के पर लगाने का भी चलन था। सम्भवतः इसीलिए वाण को सुपर्ण नाम से सम्बोधित किया गया है। वेदों में उस वाण को सुपर्ण नाम से सम्बोधित किया गया है जिसमें सुपर्ण (श्येन) पक्षी का पंख लगा रहता था। यह कार्य वाण को द्रुतगामी बनाने के लिए किया जाता होगा। वेदों में वाणों के चलाने उनके द्वारा शत्रु के शरीरों के वेधन करने शत्रु पर वाण-वर्षा करने आदि आदि के बड़े रोचक एवं सजीव वर्णन हैं। इनका एक उदाहरण इस प्रकार है—वाण का नुकीला अग्रभाग वेध्य प्राणों की खोज करने वाला होता है। तांत की डोरी से प्रेरित (छोड़ा गया) वाण गिरता है, जहाँ मनुष्य विशेष प्रकार से इधर-उधर दौड़ते हैं वहाँ हमारे लिए सुख प्रदान करे।[2] हे सीधी गति वाले वाण हमें बचा जा अथवा हमें सब ओर से दूर रख। हमारे शरीर पत्थरवत् हो जायें सोम साहस दे पृथिवी हमारे लिए सुख प्रदान करे।[3]

ऋग्वेद में वाण को वणयोनि की उपाधि से सुशोभित किया गया है।[4] इससे स्पष्ट है कि धनुष की ज्या पर वाण रखकर उस वाण को कान तक खींचकर छोड़ा जाता था।[5] ऋग्वेद में इस ओर संकेत किया गया है कि वैदिक युग में शत्रु वध हेतु विष बुझे वाणों का भी उपयोग किया जाता था।[6] अथर्ववेद में भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है।[7]

धनुष और वाण के निर्माण-कार्य-कुशल शिल्पी उनके निर्माण सम्बन्धी व्यवसाय को धारण किये हुए थे। वैदिक आर्यों में अनेक पुरुष इस व्यवसाय को धारण कर अपनी

१ १३।१६ यजुर्वेद। २ ११।७५।६ ऋग्वेद। ३ १२।७५।१२ ऋग्वेद।
४ १२।७५।६ ऋग्वेद। ५ ८।२४।२ ऋग्वेद। ६ १६।११७।१ ऋग्वेद।
७ ५।६।१४ अथर्ववेद। ६।६।१४ अथर्ववेद। ८ ७।३० यजुर्वेद।

जीविका चलाते थे। वेदों में बाण निर्माण करने वाले शिल्पी को इषुकार और धनुष निर्माण करने वाले को धनुष्कार नाम से सम्बोधित किया गया है।

तूणीर

युद्ध-काल में योद्धाओं को बाण रखने की सुविधा हेतु एक विशेष प्रकार के खोल का निर्माण किया गया था। वेदों में इस खोल को तूणीर अथवा इषुधि की संज्ञा दी गयी है। योद्धा तूणीर को अपनी पीठ पर बाँधकर लटकाये रहते थे जिससे वे सुविधापूर्वक उसमें बाण रख सकते थे और आवश्यकतानुसार उसमें बाण निकाल सकते थे। वेदों में इस तथ्य की पुष्टि में संकेत किये गये हैं। इन संकेतों में एक संकेत इस प्रकार है—पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ (पृष्ठे निबद्ध) तूणीर (इषुधि) विजय प्राप्त करता है।[1] ऋग्वेद के एक प्रसंग में तूणीर का अति रोचक एवं सजीव वर्णन मिलता है। इसका एक नमूना इस प्रकार है—अनेक पुत्र वाले पिता के समान तूणीर संग्राम में पहुँच कर चि चि शब्द करता है और पीठ पर बँधा हुआ तूणीर सद्योमूल अथवा बिखरी हुई सम्पूर्ण सेना को प्रेरित करता हुआ विजय प्राप्त करता है।[2]

वज्र

धनुष-बाण के अतिरिक्त आर्यों का राजा इन्द्र एक विशेष अस्त्र का उपयोग करता था। वेदों में इस अस्त्र को वज्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। इन्द्र ने अपने बलवान एवं भयंकर शत्रु वृत्र का वध इसी अस्त्र के द्वारा किया था। वज्र इन्द्र का अपना विशेष आयुध था। इसीलिए इन्द्र को वेदों में वज्रिन वज्रवान् आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।[3] वज्र लोह (आयस) से निर्मित होता था ऐसा वेदों में उल्लिखित है।[4] ऋग्वेद के अनुसार त्वष्टा ने लोहे का वज्र बनाया था।[4] ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर यह भी बतलाया गया है कि इन्द्र ने वृत्र नामक असुर का वध करने के लिए दधीचि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया था। त्वष्टा द्वारा निर्मित वज्र स्वर्ण के समान प्रकाशमान बतलाया गया है।[5]

इन्द्र के वज्र का वास्तविक स्वरूप क्या था स्पष्ट नहीं है। वैदिक युग के उपरान्त बहुत समय व्यतीत हो जाने पर मूर्तियों का जो विशेष रूप में निर्माण हुआ है इन

१ ५।७५।६ ऋग्वेद। २ ५।७५।६ ऋग्वेद। ३ ५।६३।१ ऋग्वेद।
६।१०३।१० ऋग्वेद। १२।८०।१ ऋग्वेद। ३।३०।२० अथर्ववेद।
४ ३।४८।१० ऋग्वेद। ५ १३।८४।१ ऋग्वेद।

मूर्तियों में किन्हीं को वज्रायुध से भी विभूषित किया गया है। इन मूर्तियों में वज्र का जो आकार प्रकार पाया जाता है वह वैदिक युग के वज्र में कहाँ तक समानता रखता है इस विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कतिपय विद्वानों का मत है कि वेदों के इन प्रसंगों में इन्द्र सूर्य है वृत्र मेघ और वज्र विद्युत है। इस प्रकार इन विद्वानों के मतानुसार विद्युत स्वरूप तीक्ष्ण एवं उग्र आयुध को वज्र मानना उचित होगा। वैदिक युग के समाप्त हो जाने पर वज्रायुध लोक से लुप्त हो गया। वह केवल कतिपय देवताओं का नाम का आयुध मात्र रह गया।

सक

सृक नाम के आयुध का भी वेदों में उल्लेख है। निघण्टु में सक को वज्र कोटि में परिगणित किया गया है।[1] इस आधार पर सक आयुध विशेष प्रकार का वज्र ही होता होगा। वेदों में सक इन्द्र का विशेष आयुध बतलाया गया है।[2] आर्यों का राजा इन्द्र भी इस आयुध का उपयोग करता था।[3] इस प्रकार सक नाम का वैदिक आयुध वज्र के समान हो एवं विशेष आयुध रहा होगा। सृक के आकार प्रकार के विषय में भी सप्रमाण कुछ कहा नहीं जा सकता। वैदिक युग के समाप्त हो जाने के उपरान्त वज्र के समान ही सक भी लोक से लुप्त हो गया।

हेति

हेति नाम का एक विशेष अस्त्र होता था। इन्द्र हेति का भी उपयोग करता था।[4] निघण्टु ने हेति को भी वज्र का ही एक प्रकार माना है।[5] हेति भी इस प्रकार वज्र के समान ही घातक आयुध था। यजुर्वेद के एक मन्त्र में हेति का सम्बन्ध धनुष से जोड़ा गया है।[6] इससे ज्ञात होता है कि हेति भी बाण के समान धनुष की डोरी का आश्रय लेकर शत्रु पर फेंका जाता था। आचार्य उव्वट ने यजुर्वेद के उस मन्त्र की व्याख्या करते हुए हेति शब्द को इसी रूप में स्पष्ट किया है।[7] वेदों में हेति का जो वर्णन दिया हुआ है उसमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि हेति देवों का आयुध था और जिसका उपयोग इन्द्र, सोम, वरुण, बृहस्पति आदि देव विशेष रूप से किया

१ ९।८५।१ ऋग्वेद। २ सकम इति वज्रनाम(२।२०)निघण्टु।
३ २१।१६ यजुर्वेद। ४ १२।३२।१ ऋग्वेद। ७।१८ यजुर्वेद।
५ ३।१०३।१ ऋग्वेद। ६ २।२० निघण्टु। ७ १२।१६ यजुर्वेद।
यही उव्वट महीधर भाष्य यजुर्वेद।

रत्त थ।[1] वदिक युग के उपरान्त वज्र और सृक के समान ही इस आयुध का उप योग समाप्त हो गया। हृति के आकार प्रकार एव स्वरूप के विषय म सप्रमाण कुछ भी कहा नही जा सकता।

प्रहेति

वदो म हेति के समान ही प्रहति को भी विशेष आयुध बतलाया गया है।[2] प्रहनि हति आयुध का ही एक विशेष प्रकार जान पडता है। आचाय उव्वट एव महीधर न यजुर्वेद के अपन भाष्य म प्रहति को प्रकृष्ट आयुध माना है।[3] प्रहनि के स्वरूप एव उसके आकार प्रकार के विषय म भी आज हम कुछ ज्ञान नही है। यह आयुध भी वदिक आयुध माना गया है। वज्र सक और हनि के समान ही वदिक युग के उपरान्त प्रहनि आयुध का लोप हो गया।

पाश

शत्रु को पकडने के लिए पाश का विशद प्रयोग किया जाता था। रस्सी म विशेष प्रकार का फन्दा बना कर पाश का निर्माण किया जाता था। इस फन्दे म शत्रु को फास लिया जाता था और पाश की रस्सी स उस अपने पास खीच लिया जाता था। इस प्रकार पाश द्वारा शत्रु को पकड कर उस बन्दी बना लिया जाता था अथवा उसका वध कर दिया जाता था। वदिक युग के युद्धो म पाश का विशेष उपयोग किया जाता था। पाश वरुण देव का महत्त्वपूर्ण आयुध बतलाया गया है।[4] अथववेद म भी पाश का वणन आयुध रूप म हुआ है। अथववेद म पाश के छ भेद बतलाये गये हैं। इन्हें साम्य, व्याम्य सदश्य विदश्य देव और मानुष पाश के नाम स सम्बोधित किया गया है। इन विविध प्रकार के पाशो स मुक्त होन के लिए वरुण देव स प्राथना की गयी है।[5] इन विविध प्रकार के पाशो का स्वरूप क्या था स्पष्ट नही है। अन इस विषय पर प्रकाश नही डाला जा सकता। वदिक युग के उपरान्त पाश भी अनुपयोगी समझा जान लगा और इस प्रकार शन शन लोग न उसका परित्याग कर दिया।

१ १० से १४।१५ यजुर्वेद। २ १५।१५ यजुर्वेद।
३ १५ से १९।१५ यजुर्वेद। ४ १३।२४।१ ऋग्वेद। २५,२६।१ यजुर्वेद।
५ ७।८८।७ ऋग्वेद। ६ २।१२।२ अथववेद। ७ ८।१६।४ अथववेद।
८ ४।७४।६ ऋग्वेद। २३।८ यजुर्वेद। ८।१०।२ अथववेद

असि

वेदों में असि नाम के शस्त्र का भी उल्लेख है।[1] द्वन्द्व युद्ध में अथवा अति समीप आये हुए शत्रु का वध करने के लिए असि नाम का शस्त्र उपयोगी समझा जाता होगा। सिन्धु नदी की घाटी की खुदाई करने पर जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें किसी रूप में भी असि पाया नहीं गया है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त घाटी के निवासी असि के प्रयोग से अनभिज्ञ थे। ऋग्वेद में असि का उल्लेख है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि असि का सर्व प्रथम प्रयोग भारत में आर्यों ने किया होगा। वैदिक असि का आकार प्रकार एवं उसका स्वरूप कैसा था ज्ञात नहीं है। सम्भवतः आधुनिक तलवार का पूर्व रूप ऋग्वेदीय असि आयुध रहा होगा।

आचार्य कौटिल्य ने असि को खड्ग का एक भेद माना है।[2] उन्होंने असिमूल या खड्गमूल का भी उल्लेख किया है। उनके समय में खड्गमूल गेंडा अथवा भैंसा के सींग, हाथीदाँत, कट काष्ठ बाँस के मूल आदि के बनते थे।[3]

परशु

ऋग्वेद में परशु का उल्लेख आयुध रूप में है। अथर्ववेद में भी परशु का वर्णन युद्ध के आयुधों के वर्णन के साथ है।[4] इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में परशु भी युद्ध के आयुधों में एक आयुध था। इसके अतिरिक्त काट छाँट के लिए भी परशु का उपयोग होता था। परशु वृक्षों के काटने के लिए भी प्रयोग में लाया जाता था।[5] ऋग्वेद के अनुसार परशु लोहे का होता था।[6] परशु आधुनिक फरसा के समान होता होगा। कौटिल्य ने परशु को क्षुर वर्ग के आयुधों में परिगणित किया है।[7] वैदिक युग के उपरान्त युद्ध हेतु परशु विशेष उपयोगी आयुध समझा जाता था। परशुराम का यह सर्वप्रिय आयुध बतलाया गया है। गुप्त कालीन भारत में युद्ध हेतु इस शस्त्र का विशेष महत्त्व रहा है। इस तथ्य की पुष्टि में उस काल की मुद्राएँ मूर्तियाँ आदि ज्वलन्त प्रमाण हैं।[8]

१ १।८।८६।१० ऋग्वेद। ४३।२५ यजुर्वेद। ११।९।१ अथर्ववेद।
२ १३।१८।२ अर्थशास्त्र। ३ १४।१८।२ अर्थशास्त्र।
४ ३।१२७।१ ऋग्वेद। ५ ११।९।१ अथर्ववेद। ६ २१।१०४।७ ऋग्वेद।
७ ९।५३।१० ऋग्वेद। ८ १५।१८।२ अर्थशास्त्र।
९ प्लेट सं० ३५ मूर्ति सं० ३७, समुद्रगुप्त की मुद्राएं (देखिए अलन प्लेट ४ मूर्ति सं० ८ से १६ तक)।

ऋष्टि

ऋग्वेद में ऋष्टि नाम के एक शस्त्र का उल्लेख है। ऋष्टि एक प्रकार का भाला होता था। ऋष्टि भी देवों का आयुध बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में सात प्रकार की ऋष्टियों की ओर संकेत किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि ऋष्टि के अनेक प्रकार थे। इसके अतिरिक्त ऋष्टि के विषय में सूचना रूप में और कुछ सामग्री उपलब्ध नहीं है।

रम्भिणी

रम्भिणी भी एक प्रकार का भाला होता था।[2] इस शस्त्र के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वाशी

वाशी नाम का आयुध एक प्रकार का छुरा होता था।[3] इसका उपयोग भी शत्रु के हनन हेतु किया जाता था।

क्षुर

वेदों में क्षुर नाम के शस्त्र का भी उल्लेख है। क्षुर एक प्रकार का चौड़े फाल वाला चाकू होता होगा, जो अपनी तीक्ष्ण धार के लिए प्रसिद्ध था।[4]

शूल

लोहे का नुकीला टुकड़ा शूल कहलाता था। इसका अग्र भाग पतला नुकीला और तीक्ष्ण होता था।[5] कौटिल्य ने भी शूल को शस्त्र माना है। उनके समय में भी शूल को प्रसिद्ध शस्त्रों में स्थान दिया गया है।

दण्ड

आधुनिक लाठी के स्थान में दण्ड का प्रयोग मार-पीट हेतु होता होगा। वेदों में दण्ड को शस्त्र कोटि में परिगणित किया गया है[6]। आचार्य कौटिल्य ने भी दण्ड को शस्त्रों में स्थान दिया है।[9]

१ ५।१६८।१ ऋग्वेद। २ ५।२८।८ ऋग्वेद। ३ ३।१६८।१ ऋग्वेद।
४ २।५७।५ ऋग्वेद। ५ १६।४।८ ऋग्वेद। ६ ११।१६२।१ ऋग्वेद।
७ ४२।३।२ अर्थशास्त्र। ८ ६।३३।७ ऋग्वेद ४।५।५ अथर्ववेद
९ ४२।३।२ अर्थशास्त्र।

अश्मा

वेदों में पाषाण (अश्मा) को भी आयुध कोटि में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर पाषाण द्वारा शत्रु के हनन करने की ओर संकेत किया गया है।[1] एक अन्य प्रसंग में यम को पाषाण फेंकने वाला बतलाया गया है।[2] इसी वेद के एक प्रसंग में पाषाण द्वारा राक्षसों के नष्ट कर देने की याचना की गयी है।[3] अथर्ववेद में भी अश्मा को आयुध श्रेणी में परिगणित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शत्रु के नाश के लिए अश्मा का भी उपयोग किया जाता था। अथर्ववेद के एक प्रसंग में पाषाण (अश्मा) से सुरक्षित रहने की प्रार्थना की गयी है।[4] दूसरे प्रसंग में पाषाणों से शत्रु का वध कर देने का आदेश दिया गया है।[5] इन संकेतों से स्पष्ट है कि वैदिक युद्धों में पाषाणों का भी उपयोग आयुध रूप में किया जाता था। शत्रु के नाश हेतु उस पर पाषाणों की वर्षा कर उसे आहत किया जाता था।

मौर्य काल में भी पाषाणों का उपयोग शत्रुनाश हेतु किया जाता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के विविध आयुधों का उल्लेख किया है। इन आयुधों में पाषाण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[6]

अंगरक्षक आयुध

संग्राम में अस्त्र शस्त्रों से योद्धा की शरीर रक्षा हेतु कतिपय अंगरक्षक आयुधों का निर्माण वैदिक युग में हो चुका था। इन अंग रक्षक आयुधों का उल्लेख वेदों में पाया जाता है। अंग रक्षक आयुध विविध प्रकार के बतलाये गये हैं। इन आयुधों द्वारा वैदिक योद्धा अपने शरीर के विभिन्न अंगों विशेष रूप से मर्मस्थलों की रक्षा करते थे। इनमें मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण आयुध इस प्रसंग में लिये जाते हैं।

बिल्मि

सिर की रक्षा हेतु शिरस्त्राण का उपयोग किया जाता था। इस शिरस्त्राण को बिल्मि की संज्ञा दी गयी है। आचार्य कौटिल्य ने भी बिल्मि को शिरस्त्राण माना है।[8]

१ ५।१०४।७ ऋग्वेद। २ २।१७२।१ ऋग्वेद। ३ १७।१०४।७ ऋग्वेद।
४ १।२६।१ अथर्ववेद। ५ ३२।१।१३ अथर्ववेद। ७।१२।४ अथर्ववेद।
६ ४१।३।२ अर्थशास्त्र। ७ ३५।१६ यजुर्वेद। ८ अर्थशास्त्र।

वर्म तथा कवच

सिर के नीचे शरीर की रक्षा हेतु वर्म तथा कवच का प्रयोग किया जाता था।[1] वर्म विशेष प्रकार का कवच होता था। यह किस प्रकार और किस पदार्थ से बनाया जाता था, स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य स्पष्ट है कि शरीर के मर्मांगों की रक्षा हेतु वर्म का उपयोग किया जाता था।[2] ऋग्वेद के एक प्रसंग में इतना संकेत अवश्य किया गया है कि वर्म गोचर्म का होता था।[3] ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि योद्धा वर्म धारण करने वाले हों।[4] यजुर्वेद में प्रसंग वश एक मन्त्र में वर्म की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—जब वर्मधारी योद्धा समरभूमि में प्रवेश करता है, मेघ के निकट विद्युत के समान हो जाता है। पुरोहित युद्ध हेतु प्रस्थान करने वाले अपने यजमान राजा के कल्याण के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि वह व्रण रहित शरीर द्वारा विजय प्राप्त करे। वर्म की महिमा उसकी रक्षा करे।[5]

रुक्म

ऋग्वेद के एक प्रसंग में मरुत देव वीर योद्धा के रूप में वर्णित हैं। इस प्रसंग में कतिपय अंगरक्षक आयुधों से परिवेष्टित मरुत देव दिखलाये गये हैं। इस अवसर पर मरुत देव पगों में खादि, सिर पर शिप्रा और वक्षस्थल पर रुक्म धारण किये हुए हैं। रुक्म एक प्रकार का वक्ष त्राण था जिसका निर्माण सम्भवतः लोहे की जंजीरों से होता था।[6]

खादि

खादि विशेष प्रकार का त्राण था। इसका उपयोग योद्धा के हाथ और पाँव की रक्षा हेतु होता था, हाथ की रक्षा हेतु उपयोग में आने वाले खादि को हस्त-खादि,[7] और पैरों की रक्षा हेतु काम में लाये जाने वाले खादि को पत्सु-खादि की संज्ञा दी गयी है।[8]

शिप्रा

एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण शिप्रा कहलाता था। शिप्रा सम्भवतः आधुनिक

१ ६।२७।६ ऋग्वेद। २ १।८।७५।६ ऋग्वेद। ३ ७।१६।१० ऋग्वेद।
४ ३।७८।१० ऋग्वेद। ५ १।७५।६ ऋग्वेद। ६ १२।५।५ ऋग्वेद।
७ २।५८।५ ऋग्वेद। ८ ११।५४।५ ऋग्वेद।

युग के झेलम टाप का पूर्व रूप था। यह शिरस्त्राण चमत्कार होता था जो स्वर्ण के समान चमका करता था।[1]

इस प्रकार वैदिक युग में विभिन्न कवच वर्म खादि रुक्म शिप्रा आदि अंगरक्षक आयुधों का उपयोग योद्धागण युद्ध काल में किया करते थे, और इन अंगरक्षक आयुधों द्वारा अपने शरीर विशेष कर मार्मिक अंगों की रक्षा किया करते थे।

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य योद्धा विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों एवं अंगरक्षक आयुधों का उपयोग करते थे। ये आयुध अपने युग के अनुसार उपयोगी थे। इनका आश्रय लेकर उन्होंने शत्रुओं से अपने जीवन सम्पत्ति, स्वतन्त्रता संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा भली भांति की थी। उन्होंने इन्हीं अस्त्र शस्त्रों और अंगरक्षक आयुधों का आश्रय लेकर अनेक भयंकर एवं रोमांचकारी युद्ध किये थे, जिनमें वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में सफल हुए थे।

वैदिक युद्ध

युद्ध की परिभाषा

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में युद्ध की परिभाषा की गयी है। इस परिभाषा के अनुसार राजन्य के बल प्रदर्शन को युद्ध की संज्ञा दी गयी है (युद्ध वै राजन्यस्य वीर्यम्)[2]। इसी प्रसंग में राजन्य शब्द की भी व्याख्या की गयी है। इस व्याख्या के अनुसार क्षत्र ही राजन्य है (क्षत्रं वै राजन्यः)[3] अर्थात् क्षात्र बलधारी पुरुष राजन्य कहलाता था।

इस प्रकार वैदिक युग में वीर पुरुषों का वीरता प्रदर्शित करना युद्ध कहलाता था। *रणस्थल में वीर पुरुष अपनी वीरता एवं अपना रण कौशल प्रदर्शित करते थे।*

वैदिक युद्ध का स्वरूप

ऋग्वेद में रोमांचकारी युद्धों का वर्णन है। इन युद्धों में वीरता और युद्धकला दोनों का प्रदर्शन होता था। आर्यों के राजा इन्द्र ने शम्बर के एक सौ नगरों को युद्ध में नष्ट कर दिया था।[4] इन्द्र ने एक दूसरे युद्ध में शतसहस्र असुरों को मार गिराया था।[5]

१ १।१५४।५ ऋग्वेद। २ १३।१।५।६ शतपथ ब्राह्मण।
३ १३।६।२।१० शतपथ ब्राह्मण। ४ ६।१४।२ ऋग्वेद।
५ ७।१४।२ ऋग्वेद।

राजा दिवादास की सहायता करते हुए इन्द्र ने युद्ध मे उसके शत्रु शम्वर के निन्यानवे नगरो को ध्वस्त कर दिया था।[1] ऋग्वेद मे रुद्र भयकर युद्ध करते हुए वर्णित है।[2] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसग म रणस्थल मे धनुर्धारी योद्धा जय घोष करते हुए दिखलाये गये हैं। इसी प्रसग म शत्रु सेना को अश्व अपने खुरो से कुचलते हुए वर्णित है।[3] रणभूमि म धनुर्धारी योद्धाओ द्वारा तीव्र गति से छोडे गये बाणो मे रक्षित रहने की प्रार्थना की गयी है।[4] इसी प्रसग म ऋग्वेद के एक स्थल पर शत्रु सेना को रणभूमि से खदेड देने के लिए अपने वीरो को प्रोत्साहित करते हुए मानो कहता है—शत्रु सेना को रणभूमि से दूर खदेड दीजिए, अपने सैनिको को लौटा लीजिए दुन्दुभि विजय-ध्वनि कर रही है, अपनी सेना रणभूमि मे निर्भय होकर निर्विघ्न विचर रही है अपने महारथी विजयी हुए हैं।[5] धनुषो की टकार से रणस्थल गूज रहा है।[6]

ऋग्वेद के एक स्थल म युद्ध का सक्षेप मे चित्रण करते हुए प्रार्थना की गयी है जो इस प्रकार है—हे इन्द्र और वरुण देव! जहाँ योद्धा गण ध्वज उठा कर युद्धार्थ मिलते है, जिस युद्ध म कुछ भी अनुकूल नही होता और जिसम प्राणी मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग पहुँचते है ऐसे युद्ध म तुम दोनो हमारे पक्ष की बात करना।[7] पृथिवी के सम्पूर्ण अन्त सैनिको द्वारा विनष्ट हो चुके है, सैनिको का कोलाहल द्युलोक म फैल रहा है, हमारी सेना के सारे शत्रु हमारी शरण ग्रहण कर चुके हैं। हे इन्द्र और वरुण देव! रक्षण के साथ हमारे पास पधारिए।[8] हम चारो ओर से शत्रु के आयुधो ने घेर लिया है हिंसको के मध्य हम शत्रु बाधा पहुँचा रहे है। आप दोनों युद्ध काल मे हमारी रक्षा कीजिए।[9]

इन प्रसगो से स्पष्ट है कि वैदिक युग मे भयकर एव रोमाचकारी युद्ध होते थे जिनमे जन और धन दोनो का नाश होता था।

वैदिक युद्ध के कुछ प्रकार

वैदिक सैनिक विविध प्रकार से युद्ध करते थे। ऋग्वेद के एक प्रसग म दो योद्धा परस्पर युद्ध करते हुए दिखलाये गये है। इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध को ऋग्वेद म मिथ-

१ ६।१९।२ ऋग्वेद। २ ७।११४।१ ऋग्वेद। ३ ७।७५।६ ऋग्वेद।
४ ११।७५।६ ऋग्वेद। ५ ३१।४७।६ ऋग्वेद। ६ ७।७५।६ ऋग्वेद।
७ २।८३।७ ऋग्वेद। ८ ३।८३।७ ऋग्वेद। ९ ५।८३।७ ऋग्वेद।

युद्ध की संज्ञा दी गयी है।[1] द्वन्द्व युद्ध के अतिरिक्त सहन प्रकार के युद्ध भी होते थे। ऋग्वेद में रथारोही सेना शत्रु की रथारोही सेना से और पैदल सेना शत्रु की पैदल सेना से सहत युद्ध करती हुई वर्णित है। विशाल सेनाएँ शत्रु की विशाल सेनाओं से रणभूमि में युद्ध करती थी। ऋग्वेद में इस श्रेणी के युद्धों का सामाचरणी वर्णन यत्र तत्र प्राप्त है।[2] अथर्ववेद में गन्-युद्ध की ओर भी संकेत किया गया है।[3] तूष्णाम युद्ध की ओर भी अथर्ववेद में संकेत मिलता है। इस प्रसंग में मायावि प्रयोग द्वारा शत्रु नाश की प्रार्थना की गयी है।

मित्र राजाओं के युद्ध-कालीन संघ

ऋग्वेद में युद्ध काल में मित्र राज्यों के संघीभूत होकर शत्रु से युद्ध करने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में ऋग्वेद के अन्तर्गत दाशराज्ञ युद्ध ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रसंग में दस राजाओं ने संघीभूत होकर राजा सुदास पर आक्रमण किया था। परन्तु इन्द्र की सहायता से इन संघीभूत दस राजाओं की संगठित शक्ति सुदास को परास्त न कर सकी अपितु उन्हें ही सुदास ने क्षीण कर दिया था।[4]

इस प्रकार आधुनिक युग में जिस प्रकार मित्र राष्ट्र परस्पर संगठित होकर शत्रु राष्ट्र पर आक्रमण करते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार वैदिक युग में भी मित्र राज्यों के परस्पर संगठित होने और फिर शत्रु राज्य से युद्ध करने के उदाहरण मिलते हैं। इन युद्धों में धन जन की महान् क्षति होती थी।[5]

संग्राम में वीरगति

वैदिक युग में सैनिकों को विविध प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता था। वीरों के लिए युद्धभूमि पुण्यभूमि बतलायी गयी है। रणभूमि में युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त होने वाले योद्धा को ऋग्वेद में महान पुण्य का अधिकारी बतलाया गया है। ऋग्वेद के अनुसार रणभूमि यज्ञभूमि है। सहस्र दक्षिणा युक्त यज्ञ करने वाले यजमान को जो पुण्य फल प्राप्त होता है, उसी महान फल के भोगने का अधिकारी रणभूमि में युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त योद्धा बतलाया गया है।[6]

१ ३।११९।१ ऋग्वेद। २ ९।७३।१ ऋग्वेद। ३ ११।९।११ अथर्ववेद।
४ ११।३७।११ अथर्ववेद। ५ ७।८३।७ ऋग्वेद। ६ २।८३।७ ऋग्वेद।
७ १७।२।१८ अथर्ववेद। ३।१५४।१० ऋग्वेद।

युद्ध में माया प्रयोग

वदिक युद्धा म आवश्यकतानुसार छल-कपट का भी आश्रय लिया जाता था। वदिक माया मे इस प्रकार के छल-कपट को 'माया' की सना दी गयी है। ऋग्वद क एक प्रमग म इन्द्र को 'मायिन' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। इसी वद क एक अन्य प्रमग म माया द्वारा नाना रूप धारण कर इन्द्र युद्ध करत हुए वर्णित है।[1] ऋग्वद म मरुन देव को भी 'मायिनम्' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[2] इसी प्रकार वरुण देव का भी इसी उपाधि से विभूषित किया गया है।[3]

युद्ध म माया का भी आश्रय लिया जाता था, इस तथ्य की पुष्टि क लिए अथव वद म स्पष्ट बतलाया गया है कि असुर माया का आश्रय लेकर युद्ध किया करते थे।[4] अथववेद के एक प्रसग मे प्रार्थना की गयी है—ह अग्नि! तुम शत्रु के हृदया का मोहित करना।[5] ह मरुन! तुम शत्रु सना को अन्धकार से आवृत कर दो जिसम व अपन मायिया का पहचान न सकें और एक दूसरे का नाश कर डालें।[6]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वदिक युद्धो मे आवश्यकतानुसार माया का प्रयोग किया जाता था।

वैदिक योद्धा का वेश

वदा म सनिक का वेश भूषा की ओर भी कतिपय सकेत पाये जात ह। इन सकेतो के आधार पर ज्ञात होता है कि वदिक योद्धा अपन सीस पर पगडी बाँधता था। सनिक वेश म मरुत देव का वणन करत हुए उन्हें पगडी बाध दिखलाया गया है।[8] यजुर्वेद के सोलहवे अध्याय म रुद्र योद्धा रूप म वर्णित हैं। इस प्रसग म रुद्र पगडी धारण किय हुए वर्णित हैं।[9] इसम भी यह स्पष्ट है कि वदकालीन योद्धा अपन सिर पर पगडी धारण करता था। वदिक सनिक अपन सिर की रक्षा हतु आधुनिक हेलमटोप के समान सिर रक्षक त्राण धारण करता था। ऋग्वेद म उसे शिरस्त्राण की सना दी गयी है। वह परा की रक्षा हेतु पद त्राण (पत्सु खादय) वक्षस्थल

१ १०।९९।२ ऋग्वेद। ३।८४।३ ऋग्वेद। २ ८।५३।३ ऋग्वेद।
३ २।५८।५ ऋग्वेद। ४ १४।४८।६ ऋग्वेद। ५ ५।५९।१ ऋग्वेद।
६ २।२।३ अथववेद। ७ ६।२।३ अथववेद। ८ ६।५७।५ ऋग्वेद।
९ २२।१६ यजुर्वेद। १० ५।११।५४ ऋग्वेद।

पर जजीर अथवा लौह-पत्र (रुक्म) हाथो म हस्तत्राण धारण करता था। शरीर-रक्षा हेतु वह वम अथवा कवच और सिर की रक्षा हेतु शिप्रि धारण करता था।[1] कन्धे पर माला (ऋष्टि) रखता था।[2] हाथ म बाण पीठ पर बाणो से परिपूरित तूणीर धनुष और कटार धारण करता था।[3] ऋग्वेद के इसी प्रसग म मरुत देव सनिक वश म इस प्रकार वर्णित है—मरुत देव के कन्धो पर चमचमाते हुए भाले दोनो बाहुओ म कल्याणकारी बल ओज और साहस सिर पर चमत्कार पगडी एव रथ म आयुध है और उनके शरीर स कान्ति स्फुटित हो रही है।

इस प्रकार वदिक योद्धा सज धज के साथ उल्लास स परिपूरित होकर युद्ध हेतु रणस्थल की ओर गमन करता था।

युद्ध काल में मादक-द्रव्य प्रयोग

वदिक आर्यों के मुख्य दो मादक पेय पदाथ थ। य दो पय पदाथ सोम और सुरा थ। सोम देवो अथवा कुछ विशिष्ट प्रतिष्ठित पुरुषो के उपयोग म आता था। जन-साधारण के उपयोग के लिए सुरा थी। ऋग्वेद म इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि आर्यों का राजा इन्द्र सोम पान कर उसके मद म उन्मत्त होकर युद्ध किया करता था।[4] इसस स्पष्ट है कि इन्द्र के सनिको को भी युद्ध के अवसर पर सुरापान कराया जाता होगा। सनिको को युद्ध हेतु प्ररित करने के निमित्त उन्हें शौयवधक सुरापान इस आशा स कराया जाता होगा कि सनिको म शौय की वद्धि हो और व मदमाते होकर शत्रु सेना का सहार करन म सफल हो सकें।

सग्राम मे वाद्य प्रयोग

युद्ध काल में सैनिकों को उत्साहित एव उत्तजित करना परमावश्यक होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विविध प्रकार के वाद्यो का आश्रय लिया जाना भी एक प्रमुख साधन समझा जाता है। इन वाद्यो की वीर ध्वनि स उत्साहित एव उत्तेजित होकर सनिक अपन स्वामी एव अपन राज्य की रक्षा हेतु अपन प्राणो पर सहष खेल जाता है। वेदो म भी इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। ऋग्वेद म युद्ध सम्बन्धी कई एस वणन है जिनम सनिको को उत्साहित एव उत्तजित करने के

१ ३५।१६ यजुर्वेद। २ ६।५७।५ ऋग्वेद। ३ २।५७।५ ऋग्वेद।
४ २।५७।५ ऋग्वेद। ५ २।३६।८ ऋग्वेद।

लिए विविध प्रकार के वाद्यों का उपयोग किया गया था। ऋग्वेद में कुछ ऐसे वाद्यों के नाम भी दिये गये है। इन वाद्यों में दुंदुभि, शख, कर्करि और गगर मुख्य है।

दुंदुभि

वैदिक युग में दुंदुभि नाम के वाद्य का विशेष महत्त्व था। ऋग्वेद में दुंदुभि का विशेष उल्लेख है। उसकी महिमा का जो यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि दुंदुभि वैदिक युग के युद्ध का प्रमुख वाद्य था। ऋग्वेद में दुंदुभि की महिमा का वर्णन कुछ इस प्रकार अति रोचक है—हे दुंदुभि! तू अपनी ध्वनि से पृथिवी और द्युलोक को भर दे, जिससे लोक तेरी महिमा स्वीकार कर ले। इन्द्र तथा अन्य देवों द्वारा सेवित हे दुंदुभि! तू दूर से, अति दूर से शत्रुओं को भगा दे। दुंदुभि! तू इन्द्र की मुष्टि है। हम बल और ओज की प्राप्ति करें।[1] रणभूमि में विजयघोष करने के निमित्त दुंदुभि बड़े चाव और घनघोर गर्जन के साथ बजायी जाती थी, इस तथ्य का पुष्टिकर्मा प्रमाण संकेत रूप से ऋग्वेद में प्राप्त हैं। इस विषय के एक प्रसंग में इस प्रकार वर्णन है—हे इन्द्र! शत्रु सेना को भली प्रकार खदेड़ दीजिए और विजयध्वजयुक्त अपने इन सैनिकों को लौटा लीजिए। दुंदुभि घोर गर्जन कर रही है। हमारे रथारोही योद्धा निर्भय एवं निर्विघ्न होकर रणभूमि में स्वच्छन्द विचर रहे हैं। हे इन्द्र! हमारे रथारोही वीर योद्धा विजय प्राप्त करें।[2] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में ओखली की ध्वनि की समता दुंदुभि ध्वनि से करते हुए इस प्रकार वर्णन किया गया है—हे ओखलि! यद्यपि तुझसे घर घर काम लिया जाता है तो भी इस यत्न में विजयी वीरों की दुंदुभि ध्वनि के समान तू ध्वनि करती है।[3]

दुंदुभि एक प्रकार का नगाड़ा होता था जो सम्भवतः आधुनिक नगाड़े का पूर्व रूप रहा होगा। प्राचीनतम दुंदुभि के विषय में विद्वानों का मत है कि पृथिवी में गड्ढा खोदकर उसके मुख पर चर्म मढ़ दिया जाता था और फिर उसे डण्डे से पीटकर ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। समय के साथ साथ दुंदुभि के आकार प्रकार एवं स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। कुछ समय के उपरान्त गड्ढे का स्थान मिट्टी अथवा धातु के पात्र ने ग्रहण कर लिया और उस पात्र के मुख पर चर्म मढ़कर दुंदुभि को नया रूप दिया गया। तब से एक विशेष स्थान मात्र पर ही वह स्थायी न रही अपितु वादक की इच्छानुसार प्रत्येक स्थान पर पहुँचने योग्य हो गयी। युद्ध के अवसर पर सैनिकों

को उत्साहित करने के लिए जो व्यक्ति दुदुभि बजाते थे और बजाने की कला म कुशल होते थे वदिक आर्यों मे उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया जाता था। दुदुभि बजाने की कला मे कुशल व्यक्तियों के लिए सम्मान प्रदर्शन होना चाहिए, इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद म स्पष्ट शब्दों म की गयी है।[1]

शख

शख भी वदिक युग का लोकप्रिय वाद्य बतलाया गया है। प्रसग से ज्ञात होता है कि शत्रु को भयभीत करने और अपने सैनिकों को प्रोत्साहित एव उत्तेजित करने के लिए शख का भी उपयोग किया जाता था। वदिक युद्धो मे शख बजाये जाते थे। यजुर्वेद के एक मत्र मे सकेत किया गया है कि शत्रु को भयभीत करने के लिए शख बजाने वाले पुरुष के लिए विशेष सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए।[2] यजुर्वेद के इस सकेत से स्पष्ट है कि वदिक युद्धो मे शखध्वनि की जाती थी और विजय के उपरान्त विशेष रूप मे शखध्वनि की जाती थी।

अथववेद मे शख की उत्पत्ति समुद्र से और उसकी ध्वनि की उत्पत्ति वायु से हुई बतलायी गयी है।[3] अथववेद मे इस ओर भी सकेत है कि युद्ध के अवसर पर योद्धा गण अपने रथो मे शख रखते थे। कुछ योद्धा अपने तूणीर के पास पीठ पर शख भी लटकाये रखते थे। योद्धाओ की आयु, उनके तेज बल और उनके लिए सौ वष लम्बी आयु की प्राप्ति व शुभ कामना के हेतु सेनानायक के शरीर पर पुरोहित द्वारा शख बाधा जाता था।[4] इन प्रसगो से ज्ञात होता है कि वदिक आय जनता मे शख नाम के वाद्य का बडा महत्त्व था। यद्यपि ऋग्वेद मे ऐसे प्रसग नही हैं, तथापि यह निश्चित है कि वदिक आय युद्धकाल मे शख का उपयोग अवश्य करते होगे।

ककरि

ऋग्वेद मे ककरि नाम के एक विशेष वाद्य का भी उल्लेख है। ऋग्वेद के एक प्रसग मे ककरि की ध्वनि की समता विन्ध्य मे उसके मन्त्र्यो की निर्भीक वाणी की ध्वनि से की गयी है।[5] अथववेद मे भी ककरि वाद्य की ओर किया गया सकेत प्राप्त

१ ३५।१६ यजुर्वेद। २ १९।३० यजर्वेद। ३ ४।१०।४ अथववेद।
४ ६।१०।४ अथववेद। ५ ७।१०।४ अथववेद। ६ ३।४३।२ ऋग्वेद।

है।[1] कर्करि वाद्य का क्या आकार प्रकार एवं स्वरूप था, इस प्रश्न के समाधान हेतु वैदिक साहित्य में तथ्यपूर्ण सामग्री का सर्वथा अभाव है। ऐसी परिस्थिति में कर्करि के आकार प्रकार एवं उसके स्वरूप के विषय में मौन रहना ही उचित जान पड़ता है।

गर्गर

ऋग्वेद में गर्गर नाम के एक विशेष वाद्य की ओर भी संकेत किया गया है। परन्तु इस वाद्य के विषय में केवल इतना संकेत है कि रणस्थल में गर्गर भयंकर ध्वनि कर रहा है। यह संकेत युद्ध के प्रसंग में है। इसलिए गर्गर को युद्ध के बाजों में परिगणित किया जाना न्याय संगत होगा। गर्गर के विषय में ऋग्वेद में यह संकेत इस प्रकार प्राप्त है—गर्गर भयंकर ध्वनि में घहरा रहा है चारों ओर शब्द कर रहा है। गिरते वक्त ज्या (धनुष की डोरी) शब्द कर रही है। इसलिए इन्द्र की स्तुति करना चाहिए।[2] परन्तु इस संकेत मात्र से गर्गर के स्वरूप तथा उसके आकार प्रकार के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना न्यायपुक्त न होगा। गर्गर के विषय में केवल इतना अवश्य कहना उचित होगा कि यह वैदिक युग में युद्ध का एक वाद्य था।

ध्वज

वैदिक संहिताओं में इस ओर भी संकेत किये गये हैं कि उस युग में ध्वज फहराने का भी चलन था। युद्ध काल में सेनानायक अपना पृथक्-पृथक् ध्वज रखते थे। ऋग्वेद में इस तथ्य की ओर संकेत है। आर्यों के राजा इन्द्र का अपना ध्वज था जिसे वह युद्ध में फहराया करता था।[3] यजुर्वेद में ऋग्वेद के एक मंत्र की पुनरावृत्ति कर इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है।[4] यह भी सम्भव है इन ध्वजों पर राजाओं, सेनानी सेनानायकों आदि के पूर्वनिर्धारित अपने अपने चिह्न अंकित रहते होंगे जिससे वे सरलता पूर्वक पहचाने जा सकें।

युद्ध के अवसर पर प्रमुख सेनानायकों द्वारा अपना अपना पृथक् ध्वज रखने का यह चलन प्राचीन भारत में निरंतर प्रचलित रहा। महाभारत में इस तथ्य की पुष्टि हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। कौरव तथा पाण्डव सेनाओं के विविध सेनानायकों

१ ५।३७।४ अथर्ववेद। २ ९।६९।८ ऋग्वेद। ३ २।८३।७ ऋग्वेद। २।८५।७ ऋग्वेद। ११।१०३।१० ऋग्वेद। ४ ४३।१७ यजुर्वेद।

के पृथक पृथक ध्वजो का उल्लेख है। इन प्रसगा के अध्ययन करन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विविध सेनानायको म स अर्जुन के ध्वज म कपि का चित्र था। इसीलिए अर्जुन को कपिध्वज के नाम स सम्बोधित किया गया है। जयद्रथ के ध्वज मे वराह का चित्र था। इसी प्रकार महाभारत म अय सेना नायको के ध्वज भी पृथक पृथक विशेष निजी चिह्न स अकित वर्णित हैं।[1]

इन ध्वजा के अतिरिक्त छोटे छोटे ध्वजा (पताकाओ) का भी उपयोग किया जाता था, जिन्हें वदिक सहिताओ म केतु की सज्ञा दी गयी है।[2] अथववेद के एक प्रसग म सेना केतु स सुशोभित वर्णित है।[3]

युद्ध काल

वदिक आर्यों न देश के जलवायु ऋतुओ आदि को ध्यान म रखकर युद्धकाल निर्धारित किया है। वर्ष म प्रत्येक ऋतु एव प्रत्येक काल युद्ध हेतु अनुकूल नही होता। प्रत्येक समय युद्ध हेतु सेना का प्रस्थान करना न तो उचित ही है और न सुविधा जनक। सम्भवत इसीलिए उन्होंने इन सभी बातो को ध्यान म रखकर युद्ध काल का निर्धारण किया है। वदिक सहिताओ मे कही भी एसा सकेत प्राप्त नहीं है जिसम युद्ध काल पर लेशमात्र भी प्रकाश पड सके। ब्राह्मण साहित्य म कुछ ऐसी सामग्री अवश्य प्राप्त है जिसके आधार से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड जाता है। शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल पर इस ओर सकेत किया गया है। इस सकेत के अनुसार युद्ध हेतु आक्रमण करने का उत्तम एव सबसे उपयुक्त समय चित्रा नक्षत्र काल बतलाया गया है। चित्रा नक्षत्र लगभग एक पखवारे की अवधि म रहता है। इस नक्षत्र का आरम्भ प्रति वर्ष १० अक्तूबर के आस पास हुआ करता है। लगभग १५ अक्तूबर से उत्तरी भारत म वर्षा ऋतु का अन्त और शरद ऋतु का प्रारम्भ होता है। अत यह समय युद्ध हेतु उत्तम माना गया है। प्राचीन काल मे सम्भवत इसी अवसर पर क्षत्रिय नरेश शत्रु विजय हेतु प्रस्थान किया करते थे। आज भी विजयादशमी का जो कि प्राय इन्ही दिनो म आती है महत्त्व है और उस दिन विजय का दिन समझा जाता है अर्थात वह दिन विजय हेतु नरेशो के प्रस्थान करने का उपयुक्त समय होता है। शतपथ ब्राह्मण के इस प्रसग म कहा गया है—चित्रा नक्षत्र मे शत्रु विजय हेतु आक्रमण करे।

१ ४।८५ द्रोणपर्व। २६।७ द्रोणपर्व। ३।४३ द्रोणपर्व।
२ १।१०३।१ ऋग्वेद। ३ ३।१०३।६ अथववेद।

वन्दि युग के उपरान्त प्राचीन भारत के कतिपय र. ाशास्त्र प्रणेताओं ने युद्ध हेतु उपयुक्त समय का विशेष उल्लेख किया है। प्राचीन भारत के इन राजशास्त्र प्रणताओं ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है कि वर्ष के किसी भी मास में युद्ध के लिए प्रस्थान किया जा सकता है। उन्होंने इस पुरुषार्थ युक्त कार्य हेतु वर्ष के कतिपय मास निर्धारित किये हैं। भारत के जलवायु एवं भूमि की उपज के आधार पर युद्ध घोषित करने का समय रखा गया है। इस विषय में मनु ने व्यवस्था दी है—राजा अपने सैन्यबल की सामर्थ्य के अनुसार शुभ मार्गशीर्ष अथवा फाल्गुन या चैत्र मास में युद्ध हेतु प्रस्थान करे।[1]

आचार्य कौटिल्य ने भी वर्ष के कुछ ही मास युद्ध हेतु श्रेष्ठ माने हैं। वे मार्गशीर्ष, चैत्र और ज्येष्ठ मास हैं। इन्हीं मासों में युद्ध के लिए यात्रा करने के पृथक-पृथक हेतु भी उनके द्वारा दिये गये हैं।[2] इसके अतिरिक्त देश के जलवायु उसकी भूमि-स्थिति के अनुसार भी युद्ध के निमित्त गमन करने के पक्ष में कौटिल्य थे।[3] इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने देश काल और परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रखकर युद्ध यात्रा हेतु गमन करना कल्याणप्रद बतलाया है।

शुक्र ने भी युद्ध काल का निर्धारण किया है। उन्होंने शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में युद्ध घोषित किया जाना उत्तम बतलाया है।[4] उनके मतानुसार वसन्त ऋतु का समय युद्ध हेतु मध्यम काल और ग्रीष्म ऋतु का समय अधम काल होता है। उन्होंने वर्षा ऋतु युद्ध के लिए सर्वथा वर्जित काल माना है। उनका मत है कि वर्षा ऋतु सन्धि करने का समय होता है।[5] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में निर्धारित किये गये युद्धकाल की पुष्टि शुक्र ने किसी अंश में की है।

विजयी राजा के प्रति विजित राजा का व्यवहार एवं आचरण

जब परस्पर विरोधी दो शत्रु राजाओं में किसी कारण युद्ध होता है तो उनमें एक को पराजय भोगनी ही पड़ती है। जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है तो कभी-कभी विजयी राजा अपने पराजित शत्रु राजा को बन्दी भी बना लेता है और

१ १८२।७ मनुस्मृति।
२ ३४ से ३६।१।९ अर्थशास्त्र।
३ ३७ से ४१।१।९ अर्थशास्त्र।
४ १०५६।४ शुक्रनीति।
५ १०५८।४ शुक्रनीति।

उसे कुछ समय क लिए अपन आश्रित रखता है। एसी परिस्थिति क उपस्थित हो जान पर विजयी राजा के प्रति उस पराजित राजा का आचरण एव व्यवहार क्सा होना चाहिए इस विषय की सामग्री वदिक सहिताओ म नहा ह। उत्तर वदिक युग के साहित्य म यत्र-तत्र कुछ ऐसी सामग्री सक्त रूप म अवश्य प्राप्त है। एतरय ब्राह्मण के अन्त म इस महत्वपूर्ण विषय की ओर सकत किया गया है। इस सकत का प्रसग इस प्रकार है—कुपार के पुत्र मत्रेय न कृपि के पुत्र सत्वन् से कहा कि (अपन शत्रु स्वामी राजा के प्रति ऐसा व्यवहार करन स) उसके पाच शत्रु राजा मर गय और वह बडा हो गया। उसका व्रत यह है— शत्रु स्वामी के बठने क पूव (पहले) न बठ। जब समझ लें कि वह खडा हुआ है तब खडा हो जाय। अपन शत्रु के लटने के पहल न लेट। जब समझे कि वह बठा है तो स्वय बठ। जब तक शत्रु न सो जाय उसे सोना नही चाहिए। शत्रु के जाग जाने पर जाग जाय। इस प्रकार आचरण करने से यदि शत्रु अश्ममधा (पत्थर जस कठोर सिर वाला) भी हो तो भी शीघ्र ही चूर चूर हो जायगा।[१]

इस प्रकार अपन स्वामी विजयी राजा के प्रति पराजित राजा के आचरण एव व्यवहार का साकेतिक उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अश म प्राप्त है जो समया नुकूल है। इसम सूत्र रूप स उसकी इच्छा के अनुकूल अनुवतन और शिष्ट आचरण करन का भाव निहित है।

१ ~~२८।१०।५~~ २८।१०।५ ऐतरेय ब्राह्मण।

परिशिष्ट

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक संहिता साहित्य

१ ऋग्वेद संहिता स्वाध्याय मंडल पार्डी सूरत (सातवलेकर-म०)

२ ऋग्वेद संहिता, सायण भाष्य सहित।

३ ऋग्वेद संहिता, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित।

४ ऋग्वेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।

५ ऋग्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित) जयदेव विद्यालंकार।

६ ऋग्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रथम मण्डल मात्र), स्वामी दयानन्द सरस्वती।

७ यजुर्वेद संहिता, उव्वट महीधर भाष्य सहित।

८ यजुर्वेद संहिता, स्वाध्याय मंडल सूरत।

९ यजुर्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित), स्वामी दयानन्द सरस्वती।

१० यजुर्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित) जयदेव विद्यालंकार।

११ यजुर्वेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद सहित), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।

१२ यजुर्वेद (कठ) संहिता, मसूर संस्करण।

१३ यजुर्वेद (तैत्तिरीय) संहिता भट्टभास्कर मिश्र सायणभाष्य सहित।

१४ यजुर्वेद (कपिष्ठल) संहिता मूल मात्र।

१५ यजुर्वेद (मैत्रायणी) संहिता मूलमात्र।

१६ यजुर्वेद (काण्व शाखा प्रथम २० अध्याय मात्र) सायणाचार्य भाष्य।

१७ सामवेद संहिता, स्वाध्याय मंडल सूरत।

१८ सामवेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित), जयदेव विद्यालंकार।

१९ सामवेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।

२० सामवेद संहिता (जैमिनीय शाखा) डा० रघुवीर सम्पादित।

२१ सामवेद संहिता (कौथुमी शाखा), गानात्मक।

२२ अथर्ववेद संहिता (शौनकीय शाखा) स्वाध्याय मंडल सूरत।

२३ अथर्ववेद संहिता (पिप्पलाद शाखा) डा० रघुवीर सम्पादित।
२४ अथर्ववेद संहिता सायणाचार्य भाष्य सहित।
२५ अथर्ववेद संहिता, (हिन्दी भाषानुवाद सहित) जयदेव विद्यालंकार।
२६ अथर्ववेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र) आर० टी० एच० ग्रिफिथ।
२७ अथर्ववेद संहिता (अंग्रेजी भाषा टीका मात्र) ह्विटनी।

(ख) वैदिक ब्राह्मण साहित्य

२८ ऐतरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य सहित।
२९ ऐतरेय ब्राह्मण (वृत्ति सुख प्रदा सहित) अनन्तकृष्ण शास्त्री।
३० ऐतरेय ब्राह्मण मार्टिन हॉग सम्पादित।
३१ ऐतरेय ब्राह्मण (हिन्दी भाषानुवाद मात्र) गंगाप्रसाद उपाध्याय।
३२ कौशीतकी ब्राह्मण सत्यव्रत सामश्रमी सम्पादित।
३३ तैत्तिरीय ब्राह्मण सायणाचार्य भाष्य सहित।
३४ शतपथ ब्राह्मण सायणाचार्य भाष्य सहित।
३५ शतपथ ब्राह्मण, वेबर सम्पादित।
३६ ताण्ड्य महाब्राह्मण सायणाचार्य भाष्य सहित।
३७ जैमिनीय ब्राह्मण डा० लोकेशचन्द्र सम्पादित।
३८ षड्विंश ब्राह्मण मूल मात्र।
३९ गोपथ ब्राह्मण मूल

(ग) आरण्यक साहित्य

४० कौशीतकी आरण्यक मूल मात्र।
४१ तैत्तिरीय आरण्यक सायणाचार्य भाष्य सहित।
४२ बृहदारण्यक शाङ्करभाष्य।
४३ ऐतरेयारण्यक सायण भाष्य।

(घ) उपनिषद साहित्य

४४ ईशादि नौ उपनिषद शाङ्कर भाष्य।
४५ छान्दोग्य उपनिषद, शाङ्कर भाष्य।
४६ बृहदारण्यक उपनिषद शाङ्कर भाष्य।

४७ ईशादि अष्टोपनिषद् हिन्दी व्याख्या, स्वामी विद्यानन्द कृत (स० चिरञ्जीव शास्त्री)।
४८ छान्दोग्योपनिषद, शाङ्करभाष्य (आनन्दगिरि व्याख्या सहित)।
४९ मुक्तिकोपनिषद, हिन्दी भाषानुवाद सहित।
५० श्वेताश्वतरोपनिषद शाङ्करभाष्य (शङ्करानन्द प्रणीत दीपिका व्याख्या सहित)।

(ङ) रामायण महाभारत

५१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गोविन्दराज टीका सहित टी० आर० कृष्णाचार्य तथा टी० आर० व्यासाचार्य।
५२ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (गोविन्दराज टीका सहित) श्रीनिवास शास्त्री।
५३ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी भाषानुवाद सहित) चन्द्रशेखर शास्त्री।
५४ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी भाषानुवाद सहित) गीता प्रेस गोरखपुर।
५५ श्रीमन्महाभारत, पी० पी० एस० शास्त्री।
५६ श्रीमन्महाभारत, नीलकण्ठी टीका सहित।
५७ श्रीमन्महाभारत (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गङ्गाप्रसाद शास्त्री।
५८ श्रीमन्महाभारत (हिन्दी भाषानुवाद सहित) गीता प्रेस गोरखपुर।

(च) स्मृति साहित्य

५९ मनुस्मृति (मन्वर्थमुक्तावली सहित), कुल्लूक भट्ट।
६० मनुस्मृति (अंग्रेजी भाषानुवाद) गङ्गानाथ झा।
६१ मनुस्मृति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), तुलसी राम।
६२ मनुस्मृति मनुभाष्य, मेधातिथि।
६३ स्मृतीनां समुच्चय, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना।

(छ) पुराण साहित्य

६४ श्रीमद्भागवत पुराण (हिन्दी भाषानुवाद सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर।
६५ मार्कण्डेय पुराण वेंकटेश्वर छापाखाना बम्बई।
६६ विष्णु पुराण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीताप्रेस गोरखपुर।

(ज) अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र

६७ कौटिल्य का अर्थशास्त्र (संस्कृत टीका सहित), गणपति शास्त्री।
६८ कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र) श्याम शास्त्री।

६९ कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गंगाप्रसाद शास्त्री।
७० कामन्दकनीति, प० जगमंगल लिखित पाण्डुलिपि मूल मात्र (उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् से प्राप्त)।
७१ कामन्दकनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), वेंकटेश्वर छापा खाना बम्बई।
७२ शुक्रनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गंगाप्रसाद शास्त्री।
७३ शुक्रनीति (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र) विनयकुमार सरकार।
७४ नीतिवाक्यामृत, सोमदेव सूरि।

(ग) अन्य ग्रन्थ

७५ गुप्त इंस्क्रिपशन गंगानाथ झा।
७६ कार्पस इंस्क्रिपशन, १ हुल्स।
७७ कार्पस इंस्क्रिपशन, ३, फ्लीट।
७८ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, ई० ज० रापसन।
७९ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया वी० ए० स्मिथ।
८० हिस्ट्री आफ एण्टीक्विटीज, मैक्सडुंकर।
८१ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, मैक्डानल।
८२ हिस्ट्री आफ एंशीण्ट संस्कृत लिटरेचर, मैक्समूलर।
८३ हिस्ट्री आफ् इण्डियन लिटरेचर (द्वितीय संस्करण) वेवर।
८४ हिन्दू पालिटी, द्वितीय संस्करण, काशी प्रसाद जायसवाल।
८५ प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, ए० एस० अल्तेकर।
८६ वार इन एंशीयन्ट इण्डिया, दीक्षितार।
८७ हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, यू० एन० घोषाल।
८८ जनतन्त्रवाद (रामायण महाभारत कालीन), श्यामलाल पाण्डेय।
८९ मनु का राजधर्म, श्यामलाल पाण्डेय।
९० भीष्म का राजधर्म, श्यामलाल पाण्डेय।
९१ कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था, श्यामलाल पाण्डेय।
९२ शुक्र की राजनीति, श्यामलाल पाण्डेय।
९३ भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, श्यामलाल पाण्डेय।
९४ अशोक, डी० आर० भण्डारकर।

९५ अशोक, आ० के० मुकर्जी।
९६ हिन्दू सिविलिजेशन आ० के० मुकर्जी।
९७ रिपब्लिक, प्लटो।
९८ पोलिटिकल थ्यारीज डब्लू० ए० डनिंग्म।
९९ निघण्टु, यास्क मुनि प्रणीत।
१०० निरुक्त, यास्क मुनि प्रणीत।
१०१ वेदिक इण्डेक्स, मक्डानल तथा कीथ।